

संस्कृत वाङ्मय में खगोल भौतिकी की अवधारणाएँ



लेखक :

डा. महेन्द्र कुमार मिश्र
एम.ए. (संस्कृत-हिन्दी), पी.एच.डी., डी.लिट् (संस्कृत)

श्री नारायण चण्डिका शक्ति
ब्राह्मण बलिहारे (नमस्ते)

[Faint handwritten text, possibly bleed-through from the reverse side of the page]

संस्कृत वाङ्मय में खगोल भौतिकी की अवधारणायें

लेखक

डा. महेन्द्र कुमार मिश्र

एम.ए. (संस्कृत-हिन्दी), पी.एच.डी., डी.लिट्. (संस्कृत)
रीडर संस्कृत, श्री वाष्णैय महाविद्यालय अलीगढ़

प्रकाशक

मञ्जू प्रकाशन

1/612-सी, नारायणीयम्
सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़-202001

प्रकाशक :

मञ्जू प्रकाशन

1/612-सी, नारायणीयम् भवन,

सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़-202001

फोन : 0571-503005

कापी राइट- लेखाकाधीन

प्रथम संस्करण-500

सन्-2001

मूल्य-400/- रुपये

मुद्रक-

अलीगढ़ लेजर ग्राफिक्स

अग्रवाल मार्केट, रेलवे रोड,

अलीगढ़-202001

फोन : 0571-524843

भूमिका

संस्कृत का वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय तत्व ज्ञान की दृष्टि से जितना समृद्ध और महत्त्वपूर्ण है उतना ही उसका सांस्कृतिक इतिहास भी सार्थक है; क्योंकि इसमें ज्ञान ही नहीं विज्ञान की प्रभूत सामग्री भी उपलब्ध है। व्यावहारिक एवं मानवोपयोगी सभी प्राच्य विद्याओं के प्रति आधुनिक सुनामधन्य वैज्ञानिकों का आकर्षण यदि 'विकासयात्रा के अतीत में झांकने की मात्र जिज्ञासा से किंचित् अधिक है' तो इसकी गवेषणात्मक गम्भीरता निःसन्देह सार्थक एवं आज के वैश्विक परिवेश में उपयोगी भी सिद्ध होगी। उपलब्ध प्राचीनतम सांख्य संस्कृत वाङ्मय के प्रति आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों का बढ़ता हुआ आकर्षण, हम भारतीयों को गदगद एवं गौरवान्वित करता है इसलिए कि अब हम इस आनुभूतिक सत्य से परिचित होते हैं कि संस्कृत वाङ्मय ने भारत को ही महिमा मण्डित नहीं बनाया अपितु विश्व को भी अनेकशः उपकृत किया है। हमें अपने पूर्वज ऋषि वैज्ञानिकों की तत्त्वान्वेषी प्रतिभा पर विस्मय भी होता और गर्व भी।

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि प्राच्य विद्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्राच्य दर्शी मनीषा की प्रकृति को आत्मसात् किये बिना सुकर हो ही नहीं सकता। यह भी अपरिहार्य अनिवार्यता है कि विज्ञानपरक उस विवेक को अद्यतन सन्दर्भों में, गम्य वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली में प्रकट किया जाना चाहिये। गुह्य भाषिक संरचना के व्यूह में यह वैज्ञानिकों के द्वारा स्वीकृत किये जाना कठिन है। यह कार्य दुरूह है परन्तु आवश्यक भी है। एतदर्थ संस्कृतविदों की वैचारिकता विज्ञान सम्मत हो और प्राच्य विद्या को कपोलकल्पितमान कर संस्कृत वाङ्मय की उपेक्षा करने वाले वैज्ञानिकों को अपना पूर्वाग्रह त्याग कर निष्ठ एवं समृद्ध सार्थक आनुसंधानिक प्रयास करना होगा। आधुनिकतम भौतिक विज्ञानी अपनी समस्त जानकारी के अन्तिम बिन्दु पर अब भारतीय दर्शन के निष्कर्षों का प्रयोग करते देखे जा सकते हैं। यहां हमारा आशय यह कदापि नहीं है कि आधुनिकतम विज्ञान कम विकसित या विकृत है। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक विज्ञान ने पर्याप्त मानवता की सुश्रुषा की है। महत्त्व की दृष्टि से उसे नकारा नहीं जा सकता और संस्कृत वाङ्मय में निहित प्राच्य विद्या के गर्भ में एक सुविकसित एवं सुस्थापित कुछ कम लोकप्रिय परन्तु सिद्ध सूक्ष्म विज्ञान छुपा हुआ है। हमारा यह विनम्र मत है कि संस्कृत के विज्ञान की व्यावहारिकता एवं मूल्यवात्ता के विविध पक्षों का आधुनिक सन्दर्भों में कृत आनुसंधानिक प्रयास आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों को एक नवीन दिशाबोध प्रदान करने में समर्थ सिद्ध होगा। आज का वरदान विज्ञान अभिषापो की शंकाओं से निरपद नहीं है, जबकि संस्कृत का विज्ञान सर्वथा निरपद रहा है। उचित पात्र में ही क्रिया की सिद्धि संभव है इस स्थापना ने संस्कृत विज्ञान को अयोग्य अर्थों में जाने से परहेज कर उसे गोपनीयता प्रदान की। ऋषियों के इस निर्णय से अनेक सनातन वैज्ञानिक सत्य आज दुर्लभ और अगम्य बन गये हैं। यही कारण है कि आज संस्कृत विज्ञान योग्य प्रतिभाओं की ओर अपेक्षा से निहार रहा है। संतोष के लिये यह कम नहीं है कि आज

संस्कृत की खगोल भौतिकीय . अवधारणाएँ

(ii)

भारतीय संस्कृत विज्ञान के दुरूह सत्यों के उद्घाटन में लगे है। जटिल भौतिकी प्रणालियों पर आधारित आधुनिक विज्ञान यदि प्राच्य विद्याओं के रहस्यों के लोकार्पण की सहायता से प्रकृति और मानव का और अधिक निकट ला सके तो ज्ञान विज्ञान की रचनात्मक दिशा में मानव प्रयासों का यह एक सुखद अध्याय जुड़ सकेगा।

संस्कृत वाङ्मय वैज्ञानिक चिन्तन की धारा से परांगमुख कभी नहीं रहा। उसने उस हरेक सत्य का हार्दिक स्वागत किया है जो लोकमंगल का आधार बन सके। भारतीय वैचारिक अस्मिता ने चिन्तन के द्वारा हरेक संस्कारित में वैज्ञानिक सत्य के लिये खुले रखे है। पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के गिर्द इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट निवारण का महत्व भी ऋषि प्रज्ञा के लिये कम महत्व का विषय रहा। प्राच्य मनीषा का बोध गम्य परिमार्जित उत्कर्ष, सत्यं शिवं और सुन्दरम् के सर्जक एवं वेद मंत्रों के दृष्टा ऋषियों की शैक्षिक एवं शैक्षणिक वैदिक शैली में प्रकट होता है। अनुशीलन की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विद्याओं से समन्वित ऋषि परम्परा में ज्ञान—विज्ञान को उच्च अकादमिक, तकनीकी, व्यावहारिक लोकोपयोगी तथा लोक सुलभ आधारों पर चिह्नित कर अनुशीलक की पात्रता और आवश्यकता के अनुरूप मंत्रों, सूत्रों अथवा गूढ़ सा मासिक संरचना में वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट करने की शैली रही है। विलुप्त हो जाने की सहज संभावनाओं के आग्रह से पारम्परिक श्रुति के आधार पर आज तक वह वैदिक ज्ञान—विज्ञान कुछेक अपरिहार्य परिवर्तनों सहित ज्यों का त्यों प्राप्त होता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुशीलन हेतु उन्हें उपयुक्त अर्थ प्रदान करना संस्कृत विद्वानों का आवश्यक दायित्व है। भारतीयों के लिये यह एक मादक विडम्बना है कि हम आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों को संस्कृत वाङ्मय में थोप पर मंत्रों, सूत्रों आदि का अध्ययन कर संतुष्ट ही नहीं आत्म विमुग्ध होना चाहते हैं। यहाँ हमारा आग्रह है कि संस्कृत वाङ्मय का सम्यक् अध्ययन ऋषि परम्परा में विकसित अनुशीलन की शैली के आधार पर ही संभव है। अतः अपने स्थापित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर संस्कृत वाङ्मय का सम्यक् अनुशीलन करना वैज्ञानिकों के लिये एकमात्र विकल्प है जो संकल्प मूलक भी हो।

भारतीय प्रज्ञा की अनेक विशेषताओं में एक अद्भुत वैशिष्ट्य यह है कि इनके ज्ञान—विज्ञान सम्बन्धी अनुशीलन का आधार विश्लेषणात्मक संश्लेषण रहा है। एक में अनेक तथा अनेक में एक के दर्शन करने का आत्मनिर्दर्शन ऋषि परम्परा का आधारभूत अंग रहा है। महर्षियों ने ज्ञान या विज्ञान को विभिन्न अध्ययन विषयों की सीमा में सीमित कर खण्ड—खण्ड करने में अभिरुचि नहीं दिखाई है। यही कारण है कि हरेक मंत्र ज्ञान—विज्ञान के एक से अधिक आयामों का प्रतिपादन एक साथ करते हैं।

वैदिक संकेत सूत्रों को जानने हेतु आर्ष परम्परा में विकसित भाव वैज्ञानिक एवं भाषिक सूक्ष्मताओं को भी आत्मसात् करने के सत्प्रयास ही वे गम्य हो सकेंगे। किसी भी भाषा की अर्थवत्ता में शब्दों का अपना महत्व होता है, किन्तु शब्द भी अर्थों की पूर्ण वाहक नहीं होते। शब्दों की अर्थ वहन करने की

क्षमता और अभिव्यक्ति परिवेश में उनका व्यवहार संप्रेषण के अत्यन्त गतिमान आयामों पर आधारित होता है। इस संदर्भ में संस्कृत भाषा अत्यन्त समृद्ध और सशक्त भाषा है। भाषा के इन पक्षों से वैज्ञानिकों को परिचित कराना संस्कृत विद्वानों का दायित्व बनता है। संस्कृत का दायदा हमारी बहुमूल्य विरासत है। यदि वह मात्र आत्मश्लाघा का विषय बना रहा तो हमारी उपलब्धियों प्रश्नचिन्हित होती रहेगी। गतिशीलता का अनुशीलन गतिशील होकर ही किया जा सकता है। आनुसंधानिक प्रयास के नियमों की पूर्वनिश्चित रूपरेखा में निबद्ध करने का आग्रह कदापि सार्थक नहीं होगा। उपलब्धियाँ कठिन परिश्रम और निष्ठ कर्मण्यता की अपेक्षा रखती हैं। यही आज के समय की मांग है। आवश्यकता आविष्कार को और जिज्ञासा अन्वेषण को जन्म देती है। विज्ञान, शब्द और अनुमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में प्रस्तुत करने की आधुनिक उपयोगी चिन्तन की विद्या है। इसमें सूक्ष्म जागतिक सत्ता को विराट में परिवर्तित करने का तार्किक आग्रह है। हमारा विनम्र आग्रह है कि यदि विज्ञान को सीखना है तो इसका अनुभव करना आवश्यक होगा। आज ज्ञान-विज्ञान को देश, काल या व्यक्ति की सीमा से बाहर निकालना चाहिये। राष्ट्रीय स्तर पर 'जय विज्ञान' के उद्घोष ने भारतीय मनीषा का आवाहन किया है कि वह आगे आये और राष्ट्रीय समृद्धि और विश्व शान्ति के महायज्ञ में अपनी पावन आहूति से राष्ट्रीय अस्मिता के उन्नायक बने ।

विज्ञान की वर्तमान संज्ञायें संस्कृत के विद्यार्थी के लिये समझने की दृष्टि से दुरुह होती हैं या यह कहना भी अनुचित न होगा कि वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान की अधूरी एवं अपरिपक्व चिन्तन जन्य संज्ञाओं के विकृत प्रभाव से भारतीय प्राचीन विज्ञान की सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं हो पाती।

विज्ञान का विद्यार्थी न होते हुए भी कितने ही तत्त्वविद् संस्कृत के मान्य विद्वानों के चरणों में बैठ उनसे किञ्चित दिशा ज्ञान प्राप्त कर, विज्ञान के विद्वानों से विविध विषयों पर निरन्तर लम्बी चर्चाओं के दौरों में अपनी संस्कृतनिष्ठ अवधारणा को वैज्ञानिकता से संपृक्त करने की सुगमता ने मुझे अपेक्षित सामर्थ्य प्रेरणा और उत्साह देकर, अपनी विरासत के वैज्ञानिक पक्षों को उद्घाटित करने की दृढ़ता प्रदान की । डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति श्री मंजूर अहमद एवं पूर्वकुलपति डॉ० एस०एस० गुप्त, डॉ० रघुवीर शास्त्री, डॉ० सुनीति कुमार पाठक, प्रसिद्ध खगोल विज्ञान विद्, डॉ० जे० वी० नार्लिकर, प्रो० यशपाल आदि वरेण्य विद्वानों के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग का परिणाम यह ग्रन्थ सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है।

सृष्टि विज्ञान के वैज्ञानिक विवरणों से भरपूर वैदिक वाङ्मय में वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ , पुराण एवं महाभारत आदि विज्ञान के आधार ग्रन्थ हैं, जो अपनी भौतिक शैली में वैज्ञानिक पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। निरन्तर तीस वर्ष के अध्यापन के बाद आज सप्रमाण यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय में वैज्ञानिक चिन्तन एवं विज्ञान की पराकाष्ठा विद्यमान है। भारतीय वैज्ञानिक चिन्तन को एवं वैदिक रहस्यों को वैदिक 'आम्नाय' से अपरिचित कोई भी विज्ञ भी विश्वास नहीं करता । यही नहीं भारतीय संस्कृत

विज्ञान को सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध ने आहत किया । उनकी बुद्ध शिक्षाओं ने सनत्कुमार, नारद और शाण्डिल्य आदि अनेक वैदिक विज्ञान वेत्ताओं को प्रायः भुला ही दिया। दूसरे वेदान्त दर्शन के आचार्यों ने भी भौतिक विज्ञान एवं वैशेषिक शास्त्रों पर व्यापक प्रहार किया । कितने ही रावणादि के विशाल भाष्य एवं वैशेषिक ग्रन्थ अज्ञात हो गये । भारतीय वैज्ञानिकों की सुदीर्घ परम्परा में ब्रह्मर्षि ब्रह्मा, अंगिरा, भृगु, अत्रि, स्वायम्भुव, मनु, सनत्कुमार, नाट्य, उशना, बृहस्पति, पंचशिख, भारद्वाज, सारस्वत, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य, कृष्ण द्वैपायन, भीष्म एवं कृष्ण आदि अद्वितीय वेद विज्ञान के वेत्ताओं की गणना की जा सकती है। पाश्चात्य तथाकथित संस्कृतज्ञान के दंभी, रॉथ, नैबर, मैक्समूलर, ह्विटनि, ओल्डनवर्ग, एगलिंग, मैकडोनल, कीथ वितरनीत्स्ज़ और कालेण्ड तो वेदों की भौतिक सन्दर्भों की सामान्य संज्ञाओं को भी नहीं जान पाये थे। हमने तो सुधीजनों के प्रसाद हेतु भारतीय खगोल विज्ञान के संस्कृत वांगमय में विहित सैद्धान्तिक पक्षों को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है। व्यावहारिक एवं प्रायोगिकी हेतु जिज्ञासुओं के लिये मार्ग का प्रशस्त किया है। आज का विज्ञान 'शिल्प' में असाधारण उन्नति करता जा रहा है जो सूक्ष्म से स्थूल चिंतन है और विनाशात्मक परिणामी ही अधिक है।

इस लघु ग्रन्थ में सृष्टि की आदिम अवस्था, शोभ, संपीडन, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि, आपः, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ग्रहादि के वैज्ञानिक पक्षों को संस्कृत वांगमय के सन्दर्भ में उद्घाटित किया गया है। हमारा भारतीय विज्ञान तो इनर्जी को मैटर में परिवर्तित करने का रहस्य जानता है। संस्कृत विज्ञान, वायु, अग्नि और आपः के परमाणुओं को ही 'तत्त्व' स्वीकार करता है। जिन्हें आज का विकसित विज्ञान nucleus, electrons तथा neutrons मानता है। आज का विज्ञान संभवतः विद्युत के शुष्क और आर्द्र रूप की व्याख्या नहीं कर सकेगा क्योंकि वे संस्कृत महाभूतों को नहीं मानते । संस्कृत विज्ञान के अनुसार विद्युत के शुष्क (पाजिटिव) आग्नेय एवं आर्द्र (नैगेटिक) आपः तत्त्व हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार सूर्य ताप का आपः परमाणु है। आपः का दिव्य बनना, अन्तरिक्ष का मरुत चक्र एवं उससे उत्पन्न वैद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की उत्पत्ति और इसी क्षेत्र के प्रभाव से अयस्मयी पृथ्वी का चुम्बकीय बनती है। दिशाओं आदि का कर्म और परिधियाँ आज भी वैज्ञानिकों को अज्ञात है। द्यौ और भू का नैकट्य, तदनु इनका दूरगमन अन्ततः इनका दृहण आदि आज भी विज्ञेय है।

भारतीय प्राचीन विज्ञान पर महर्षि दयानन्द सरस्वती, के अतिरिक्त पं० गुरुदत्त, श्री गंगा प्रसाद, प्रो० बालकृष्ण, ब्रजेन्द्रनाथ सील, श्री मधुसूदन ओझा, वैकटरमण आर्य, हंसराज, श्री गिरधर शर्मा, चतुर्वेद, पं० भगवदत्त, आदि ने वैज्ञानिक चिन्तन के मार्ग प्रशस्त किये हैं। इसी परम्परा में यह तुच्छ प्रयास कितना सार्थक होगा—भविष्य के गर्त में है।

इस पुस्तकीय प्रयास में डॉ० श्रीमती मंजु मिश्र ने तत्परता से सहयोग

किया है अतः उनका आभारी हूँ । हमारे पूज्य पिता श्री नारायण दत्त मिश्र के मांगलिक आशीर्वाद एवं उनकी आदेशात्मक प्रेरणा का प्रतिफल है यह गवेषणा ।

महेन्द्र कुमार मिश्र,

‘नारायणीयम्’,

१/१६२ सी सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़ ।

शारदीय नवरात्र २०००

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

१. सृष्टि : असत्—सत् पर्यन्त
पुरुष, प्रकृति, असत्—सत्, गर्भ (अण्ड) शोभ, संपीडन १-८
२. पृथ्वी
आर्द्रा पृथ्वी पर क्रमशः नौ सृष्टियाँ, आग्नेयी पृथ्वी, परिमण्डला पृथ्वी, पृथ्वी का नामकरण
३. अन्तरिक्ष
विविध लोक तीन/सात/पाँच, पाँच मण्डल, अन्तरिक्ष का नामकरण, पृथ्वी — आन्तरिक — एवं द्युलोक की सीमायें, वर्तमान विज्ञान एवं वायुमण्डल, अन्तरिक्ष विभाजन १७-२२
४. आशा—दिशा २३
५. लोकों का अपसरण २४-३०
६. आपः ३१-३२
आपः विभाजन एवं अन्य सन्दर्भ
७. अग्नि : भौतिक अस्तित्व तथा अग्नि ३३-३५
८. वायु ३६-५९
वायु की सृष्टि एवं दीप्ति, सप्त वायु मार्ग (वात स्कन्ध) प्रवह, आवह, उद्रह, संवह, विवह, परिवह, परावह, सप्तम वातस्कन्ध से आगे— ४९ प्रकार की वायु, मेघ नाम
९. सूर्य ६०-८५
सूर्य—विज्ञान, सूर्य की उष्णता, सूर्य मण्डल, सूर्य एवं पृथ्वी की समीपता, सूर्य—रश्मि क्रिया, सूर्य रश्मियाँ, प्रलयकालीन, सात सूर्य, सहस्ररश्मि—उत्पत्ति एवं कारण रश्मियों का भौतिक स्वरूप, सूर्य मण्डल के सप्तगण, सूर्य परिवार, सूर्य कलंक
१०. अश्विनौ ८६-९१
११. मरीचि ९२-९७
१२. चन्द्रमा ९८-१०८
सृष्टि के प्राचीन सन्दर्भ, सृजन और चन्द्रमा की वर्तमान अवस्था के तीन कारण, चन्द्रमा की उत्पत्ति और पाश्चात्य विवेक तथा भारतीय मनीषा, चन्द्रमा तथा आपः चन्द्रदीप्ति, चन्द्रगति ।
१३. प्रकीर्ण, ग्रह और धूमकेतु १०९-११६
भौतिक अस्तित्व, वायु का गुरुत्व, सप्तलोक, प्रजापति : रश्मिचान, रिक्त, वृत्त विवर्त ।
१४. पर्यावरण एवं परितंत्र के संतुलन में वैदिक परम्पराओं का योगदान ११७-१२२

सृष्टि : पुरुष से असत्—सत् पर्यन्त

पुरुष :

सृष्टि विज्ञान के विषय में अति प्राचीन आर्य शास्त्र सहमत हैं कि समस्त दृश्य जगत् का आरम्भ परमपुरुष, अविनाशी, अक्षर या परब्रह्म से हुआ। तदनुसार पुरुष शब्द मूलतः ब्रह्म का वाचक है। कहीं—कहीं पुरुष शब्द का प्रयोग प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ के लिये भी हुआ है। तीसरा सुप्रसिद्ध अर्थ मनुष्यपरक है।

ज्ञानी शास्त्रकार ऋषि यह मानते हैं कि पुरुष के साथ प्रकृति का अस्तित्व भी सदा से रहा है। प्रलय अवस्था में प्रकृति, परम पुरुष में लीन थी। पुरुष के स्वरूप के विषय में ऋषि कठ ने कठोपनिषद् में कहा है कि 'पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः। (१/३/११) पुरुष से परे कुछ भी नहीं है। मुण्डकोपनिषद् में इसे परमपुरुष कहा गया है। 'परात् परं पुरुषम् उपैति दिव्यम् ॥ ३/२/८॥ श्री भगवद्गीता में इस कथन का समर्थन प्राप्त होता है। (३/४६/४७; ८/११) प्रकृति से परे दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। ऋग्वेद उसका अलौकिक रूप बताता है, 'आनीदवातं स्वधया तदेकम् ॥ १०/१२९/८॥

श्वेताश्वेतर का निश्चित मत है कि पुरुष के बिना सृष्टि का प्रारम्भ असम्भव है। काल आदि आदि सात कारणों में पुरुष सृष्टि का प्रधान कारण है।

इस पुरुष को ही वेदों एवं अन्य शास्त्रों में क्षेत्रज्ञ एवं अज आदि कहा गया है। तावेतौ सत्त्व क्षेत्रज्ञौ (पैगिरहस्य ब्राह्मण १/३/७), ब्रह्मसूत्र १/२/१२) मानवधर्मशास्त्र १/१२, १४) उपनिषदों से पर्याप्त पूर्व पंचशिख (मुनि आसुरि के शिष्य) ने कलि संवत् १००० वर्ष पूर्व क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग अपने तंत्र में बहुधा किया। ऋग्वेद, १०/३२/७ में भी यह देखा जा सकता है। आज का विज्ञान पुरुष की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। वह जगत् का कारण भूतादिकों को ही मानता है। यह उनकी अल्पज्ञता है।

प्रकृति :

आर्यों की सृष्टि विषयक शास्त्रीय मान्यता है कि पुरुष की इच्छा की अभिव्यक्ति के उपरान्त प्रकृति से सृष्टि प्रारम्भ हुई। प्रकृति (प्रधान) के लिये विभिन्न पर्यायवाची शब्द शास्त्रों में मिलते हैं—जैसे तमः (ऋ. १०/१२९/२), ज्येष्ठ (ऋ. १०/१२०/१), स्वधा (ऋ. १०/१२९/२) अव्यक्त (कठो. १/३/११), अजा (श्वेता. ०५/५)। विक्रम पांचवीं शती से पूर्व दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्ति ७/३ में....तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तत इति।' पंचशिख तंत्र में भी यह सूत्र मिलता है। सांख्य सप्तति की ७१वीं कारिका की माठरवृत्ति में भी ऐसा ही लिखा है कि इसी तम (प्रकृति) से रूपान्तरित होते होते यह जगत् बना। यजुर्वेद, मनु (१/५) एवं वायुपुराण (४/२३) में भी तम शब्द (प्रकृति) के लिये प्रयुक्त हुआ है। ज्येष्ठ शब्द भी प्रधान का पर्याय है। यास्काचार्य ने निरुक्त १३/३७ में ऋग्वेद के १०/१२०/१) मन्त्र की व्याख्या में लिखा है 'भुक्नेषु ज्येष्ठम्—अव्यक्तम् ॥ प्रधान और अव्यक्त भी एक ही है। विष्णु पुराण, १/२/५४, में प्रधानानुग्रहेण को वायु पुराण ४/७४, में 'अव्यक्तानुग्रहेण कहा गया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद्, ४/५ में इसे 'अजामेका' बताया है। क्षेत्र शब्द के निर्वचन

में वायु पुराण ने कि—क्षयणात् कारणाच्चैव क्षतत्राणात् तथैव च । भोज्यत्वात् विषयत्वाच्च क्षेत्रं क्षेत्रविदो विदुः । ॥ १०२/१११ ॥ देवलधर्मसूत्र में गुणों की समानता के कारण अव्यक्त प्रधान, प्रकृति एवं विधान सभी शब्द समानार्थक हैं। निम्न श्रुतियों में प्रकृति को ही प्रधान कहा गया है। योगदर्शन (२/२३ पर व्यास भाष्य) प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः इति श्रुतेः । शान्तिपर्व २३८/२६ —त्रिगुणोऽसौ महाज्ञातः प्रधान इति वै श्रुतिः । इसके अतिरिक्त प्रकृति को सत्त्व (शान्ति. २४१/१) सत्य, परा, अलिङ्गा, (वायु० पु० १०२/१०७) , महा० शान्ति०, ३०३/४७) अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहु । अनिर्वचनीया आदि कहा गया है।

प्रकृति का अपचय नहीं होता । महाभारत में एक सिद्धान्त प्रतिपादित है कि एक दीपक से जैसे अनेक दीप जलाये जा सकते हैं वैसे ही प्रकृति अनेक लोकों को उत्पन्न करती है । अनन्त होने से वह क्षीण नहीं होती। 'प्रकृतिः सूयते तद्वद् आनन्त्यान्नापचीयते ॥ (शान्ति० २१२/३९) हमारी विनम्र मान्यता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृति के घेरे में विद्यमान है।

इस प्रधान (प्रकृति) में रजोगुण प्रधान क्षोभ हुआ तब सृष्टि प्रारम्भ हुई। सत्त्व, रज, तम गुणों की समता में प्रलय और विषमता में सृष्टि होती है। 'गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते ॥ वायु० ५.९.१३) पुरुष से अधिष्ठित गुण विषम हो जाते हैं।

इस क्षोभ के उपरान्त प्रकृति की अनिर्वचनीयता समाप्त होने लगी । यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि यह क्षोभ प्रकृति में स्वयं नहीं हुआ । पुरुष प्रेरणा से प्रधान में विषमता हुई। क्षोभ के उपरान्त 'महान्' का प्रादुर्भाव हुआ। 'गुणभावात् वाच्यमानो महान् प्रादुर्बभूव ह । (वायु० ४/२४) यह महान् भी अनेक नामा वाला शास्त्रों में कहा गया है— मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पूः, भूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चित्ति, संवित्, संदिक्, विपुर्म् । वायु ४/२७—२८)। वेदान्त सूत्र शांकर भाष्य (१/४/१) में यही नाम किञ्चित् भेद से बताये गये हैं। अक्षर और लिङ्ग शब्द भी महान् के पर्यायवाची हैं। 'बुद्धिर्मनश्च लिङ्गश्च महानक्षर एव च । (वा० १०१/२१) , वायु पुराण इसे बुद्धि लक्षण भी कहा है। महान् वै बुद्धिलक्षणः १०२/३० ॥ कपिष्ठलसंहिता में इन्द्र से पूर्व बृहत् को उत्पन्न बताया गया है 'तस्मात् पुरां बृहन् महान् अजनि । (काठक०, ६/८, कपि० पृ० ४६) शतपथ ७/५/१/२१ में महान् को प्रजापति माना है। 'महान् हि सतद्अभवत् । कठोपनिषद् इन्द्रियों से परे मन है। उससे उत्तम सत्त्व है। सत्त्व से ऊपर महान् आत्मा और महत् से अव्यक्त उत्तम हैं; कहा गया है ' सत्त्वादधि महानात्मा महतो व्यक्तमुत्तमम् । (२/६/७) ।

यह महान् ही सृष्टिकर्ता कहा गया है— 'महांस्तुसृष्टिं कुरुते नोद्यमानः सिसृक्षया । (वायु० ४/२७/४६) प्रधान के परिणाम आगे आगे उसके अन्दर होते हैं। प्रत्येक आगे वाला विकार अपने से पूर्व के अन्दर होता है। गुणभावाद् भासमाने महातत्त्वं बभूव ह । तथा सूक्ष्मः स तु महानग्रे अव्यक्तेन समावृतः । (ब्रह्माण्ड० १/१/३/१३—१४)

यहाँ यह स्पष्ट है कि ग्रह, चन्द्र और नक्षत्र आदि से युक्त जगत् तथा उसके साक्षी अन्य अनेक जगत् भूतों से आवृत हैं। उन सबका अन्तिम आवरण प्रकृति है। यह महान् तीन रूप में था— वैकारिक, तैजस एवं भूतादिक ।

महत् के पश्चात् अहंकार जो भूतों का आदि था । अहंकार के तामस भेद को महाभारत में भूतादि कहा गया है— तामसो कसावहंकारो भूतादिरिति संज्ञितः । (शान्ति० २३८। २७—२८) कपल मुनि आसुरि को उपदेश देते हुये अहंकार का पर्याय नाम या रूपान्तर ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ आदि को कहते हैं। (शान्ति०, ३२७/१२ ।

तन्मात्रा सर्ग अहंकार के पश्चात् होता है । तन्मात्रा भूतों की पूर्वावस्था है। तन्मात्रा अविशेष और भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) विशेष कहे गये हैं। विशेषोऽन्यविशेषणात् । (ब्र०पु० १/२/१९/१८३) मंत्र और ब्राह्मणों में तन्मात्राओं की सृष्टि का क्रम सुस्पष्ट नहीं हो सका है। 'यावान् अग्निः यावती अस्य मात्रा तावत्। (शत० ९/१/१/१६, ३८) । प्रश्नोपनिषद् में पृथिवी च पृथिवी मात्रा च । आपश्च अपो मात्रा च । (४/८) आकाशादि के जो गुण हैं वे ही तन्मात्रा हैं— महाभूतों से पूर्व भूत तन्मात्रा पैदा हुई। ये तन्मात्रा गुण थी । निश्चित ही तब गुणों का अलग स्वतंत्र अस्तित्व था। द्रव्य या महाभूतों से गुण सर्वथा भिन्न है। पाश्चात्य विज्ञान में गुण और द्रव्य में भिन्नता नहीं बताई गई है। यही कारण है कि उनका विज्ञान पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पा रहा है । गुण के द्रव्य में प्रवेश करने से द्रव्य का संघात बनता है। यही कारण है कि रस के प्रवेश से आपः और सुगंध प्रवेश से पृथ्वी का उत्तर रूप बनता है। पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ ही पंच महाभूत है। 'युगपद् संप्रवर्तन्ते भूतान्ये वेन्द्रियगणाणि च ॥ (वायु० १०३/३८), तन्मात्र तक की सृष्टि इन्द्रियग्राही न होने से अविशेष ही है। इन्द्रियों के प्रत्यक्ष अस्तित्व को मानकर पंचभूतों के स्वतंत्र अस्तित्व को न मानना आज के विज्ञान की भूल है। तन्मात्राओं के बाद महाभूतों (आकाशादि की सृष्टि होती है। पंच महाभूतों के प्रधानतः दो रूप हैं— असत् और सत् । वेदादि भी इन भेदों को मानते हैं।

असत् सत्—ऋग्वेद १०/१२९ सूक्त भाववृत्त देवता वाला है। भाववृत्त अर्थात् सृष्टि होने का इतिहास। सूक्त का प्रथम मंत्र है— नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। इस मंत्र के असत् और सत् शब्दों का अर्थ मैक्समूलर से तारापद चौधरी तक असत् पद का अर्थ करते हुये कहते हैं— What is not,¹ Non existent,² Non being,³ Naught⁴ तथा सत् पद का अर्थ That is, 2- existent,

¹ Maxmular : H.A. 5.2., Sec. ed. (1860 A.D.) p. 559

² A.A. Macdonell : Ved Myth. P. 13

³ M. Bloomfield : The religion of the Veda p. 235, Tarapad Chaudhary , History of Philo. eastern and western Vol. I, Article on Vedas, p. 47

⁴ M. Winternitz : H.I.L. Pg. 98

3- being , 4. ought करते हैं। ऐसे ही अन्य स्थानों पर वांगमय में सत् और असत् संज्ञा शब्द हैं। पाश्चात् विद्वान् इन संज्ञाओं का अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। शतपथ आदि ब्राह्मणों में इन शब्दों का अर्थ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होता है। यथा असत् के सम्बन्ध में शतपथ ने कहा है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहु । किं तद् असद् आसीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीं के त ऋषयः इति । प्राणा वा ऋषयः । ते यत् पुरा —अस्मात्! सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिपंस्तस्माद् ऋषयः । (शत० ६/१/१/१) असत् पूर्व में था। ऋषि ही पूर्व असद् था । प्राण ही ऋषि थे। (प्राण = वायु के सूक्ष्म भेद)

असत् का यह अर्थ वाजसनेय याज्ञवल्क्य तथा उनके शिष्य की स्वयं की कल्पना नहीं है। वैदिक विश्वामित्र, वसिष्ठ , जमदग्नि, कश्यप, दक्ष आदि ऋषि नाम इन्हीं प्राणों के नाम हैं। इन्हें मानुष ऋषि समझना भूल होगी । शतपथ ने ही सत् को समझाते हुये असत् को स्पष्ट कर दिया है— 'द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे । मूर्तं चैवामूर्तं च । मर्त्यं चामूर्तं च । स्थितं च यच्च । सच्च त्यं च । तदेतन्मूर्तम् । तदन्यद् वायोश्चान्तरिक्षाच्च । एतन्मर्त्यम् । एतत् स्थितम् एतत् सत् । (१४/५/३/१-४) ब्रह्म के (महान् के) दो ही रूप हुये मूर्त और अमूर्त । मर्त्य और अमृत। स्थित और यत्। सत् और त्यम्। यह मूर्त है। जो अन्तरिक्ष और वायु से है। यह मर्त्य है। यह स्थिति है। यह सत् है। वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त है। यह अमृत है त्यम् है। स्पष्ट है कि असत्—अमूर्त, अमृत, यत्, त्यम है और सत् मूर्त, मर्त्य, स्थिति और सत् है। काण्व बृहदारण्यक (३/१) में कुछ पाठान्तर से यही बात कही गई है। इससे स्पष्ट है कि मूल सृष्टि अथवा तन्मात्रा भूतों की पूर्वावस्था परक है। आदि में तन्मात्रा आदि में से कोई भी नहीं था । प्राण के परिणाम सत् के सब रूप हैं। प्राण ही असत् आदि भी हैं। प्रश्नोपनिरूपद् में भी यही कहा गया है। शतपथ^१ में भी ऐसा ही कहा गया है। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति । नेव हि सन्मनो नेवासीत् । नहीं के समान पहले असत् था । न के समान ही सत् था। तो निश्चित ही वह मन (अहंकार) ही था। अर्थात् न ही सत् मन (था) न असत्। तो मन अविर्भाव की इच्छा से संपृक्त हुआ ।

अतः असत् और सत् संज्ञा शब्द है। अविशेष के बाद विशेष महाभूतों की सृष्टि होती है। अब तक दैव इन्द्रियों की सृष्टि हो चुकी थी । उन्हीं के साथ महाभूत हुये । ये ही विशेष है । ये इन्द्रिय ग्राह्य है । विशेषा इन्द्रियग्राह्या । (वायु० ४/७०) इनसे पूर्व इन्द्रियाँ नहीं थी। अतः महाभूतों से पूर्व की अवस्था इन्द्रिय ग्राह्य कैसे हो सकती है। इन्द्रियाँ तो भूतों की माया का भी ग्रहण नहीं कर सकती ।^२ प्रकृति के विचारों का कारण कार्य रूप सुसम्बद्ध नियमों से नियमित है। भौतिक विज्ञान की सीमा यहीं तक है क्योंकि इन्द्रियों पर आश्रित ज्ञान इससे आगे नहीं जा सकता। एटम और इलैक्ट्रॉन का विज्ञान यहां समाप्त हो जाता है । विशेषों का अद्भुत ज्ञान के कणाद के वैशेषिक दर्शन से जाना जा सकता है।

^१ शतपथ १०/५/३/१-३ तथा तैत्तिरीय ब्रा०, २/२/९/१, १२ छान्दोग्य० ३/१९/१०३

^२ The Universe and Dr. Einstein , P. 22

गर्भ (अण्ड) :

आपां और अपां नपात् के प्रभाव से एक महान गर्भ उत्पन्न हुआ ।^१ अपां नपात् के अतिरिक्त इस गर्भ निर्माण में अग्नि और वात का भी सहयोग था। ऋग्वेद अग्नि को भुवन का गर्भ माना है।^२ वायु पुराण (४/७४) में कहा है कि पुरुष के अधिष्ठान के कारण प्रकृति की कृपा से अहत् पर्यन्त पदार्थ अण्ड को उत्पन्न करते हैं। अण्ड सहसा ही जल के बुलबुले की तरह उत्पन्न हुआ। वेदों में गर्भ (अण्ड) की उत्पत्ति बताते हुये कहा गया है कि, 'जहाँ सब देव इकट्ठे थे उस गर्भ को आपों ने धारण किया। अज अर्थात् सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था की नाभि (मध्य) में वह अण्ड एक था जिसमें सभी भुवन स्थित थे। (ऋ. १०/८२/६) वायु पुराण हिरण्य गर्भ को अज कहता है।^३ आपः की व्यापकता ने सम्पूर्ण आकाश को भर दिया और इन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया। यजुर्वेद भी आपों को अण्ड का गर्भ (उत्पादक) मानता है। स्पष्ट है गर्भ (अण्ड) की उत्पत्ति में अग्नि सहायक था।^४ गर्भ कुछ काल बाद प्रजापति बना। 'सुभूः स्वयंभूः प्रथमोऽन्तर्महत्पुर्णवे । दधेह गर्भमृत्विष्यं य तो जातः प्रजापतिः । तैत्तिरीय संहिता (५/६/१) के अनुसार सुवर्ण सम शुचि और पावक आपः में कश्यप उत्पन्न हुआ। आपः हिरण्यवर्ण थे। उनमें अग्नि का विद्युत रूप था। उसके दो भेद शुचि और पावक थे। शुचि रूप के आपः आदित्य तक जाते हैं तो पावक अन्तरिक्ष में रहते हैं। वैशेषिक सूत्र (५/२/९) दिव्य आपों में दिव्य अग्नि के अनुप्रवेशन को स्वीकार करता है— 'तत्र विस्फूर्जभुर्लिङ्गम्।'

दिव्य आपः के सम्बन्ध में शान्ति पर्व का कथन महत्वपूर्ण है— 'यस्मिन् पारिप्लवाः दिव्याः भवन्ति आपो विहायसा । पुण्यं चाकाशगंगायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति । (३३६/६९) वायु के परिवह नामक स्कन्ध में आपः परिप्लव तथा दिव्य हो जाते हैं। दिव्यता अर्थात् इलैक्ट्रोन अवस्था में चले जाना। परिप्लव शब्द से ज्ञात होता है कि दिव्य आपः चक्र काटने लगते हैं, इलैक्ट्रोन भी अपने केन्द्र न्यूक्लियस के चारों ओर चक्र काटने लगते हैं। संभव है इलैक्ट्रोन और प्रोटोन दिव्य आपः और अग्नि के परमाणु हैं। वेद मंत्रों के वैज्ञानिक रहस्य को वायु पुराण (४/८२-८४) में स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि इस अण्ड में समस्त जगत् था। वेद मंत्रों का भाष्य स्पष्ट करता है कि हिरण्यगर्भ ही तेजोमय महत् अण्ड था। क्रमिक परिणाम के उपरान्त अर्थात् महाभूतों द्वारा अण्ड सृजन के बाद आपों के प्रधान होने पर वह हिरण्यगर्भ हुआ। इस तथ्य को शतपथ ब्राह्मण विस्तार से प्रस्तुत करता है कि 'आरंभ में सलिलावस्थ आपः जिसमें सब कुछ लीन था उसमें स्वयंभूः ब्रह्म की कामना कि प्रजा रूप में हम कैसे फैलें? कामना की

^१ ऋ. २/३५/१३ :

स ई वषाजनयत् तासु गर्भ स ई शिशुर्धयति तं रिहन्ति ।

सो अपां नपादनभिस्तातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेष ॥

^२ ऋ. १०/४५/६ : विश्वस्य केतुः भवुनस्य गर्भः । तथा १०/१६८/४ परवात को आत्मा द भुवन का गर्भ कहा गया है।

^३ वायु पु., ५/४०, ऋ. १०/१२१/७

^४ यजुः ८/२६, ११/४६, २३/६२

सफलता हेतु तपस्या के परिणामस्वरूप तपती हुई आपों में हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। जो एक दिव्य वर्ष चक्र में तैरता (परिप्लव) रहा। तब पुरुषसूक्त में वर्णित पुरुष प्रकट हुआ।

ताण्डय ब्राह्मण (१६/११) के अनुसार प्रजापति का प्रसर्पण हुआ। हिरण्यगर्भ की तीन गतियाँ हुई। पर्यप्लवन्, प्रसर्पण और समेषण। इनमें प्रथम गति सलिलावस्थावाले आपः में गति उर्मियों से उत्पत्ति हुई। तब प्रसर्पण और क्रमशः पर्यप्लवन् गति हुई। वैदिक प्रजापति या पुरुष ही वाइविल का 'गौड' कहा जा सकता है।

वह अण्ड अग्नि के प्रभाव से हैमवर्ण, सहस्रांशु समप्रभ हो गया था। हिरण्यगर्भ को स्वयंसंभूः ब्रह्म ने अपना विराट शरीर बनाया। ब्राह्मण ग्रन्थ उसे ही पुरुष या प्रजापति कहते हैं।

यह अण्ड दस गुने आपों से घिरा हुआ था। ये आपः ही नारायण के निवास थे। यह दण्ड महाभूतों का परिणाम था। इसके अधोभाग में पार्थिव अंश एकत्र हुआ। ऊपर का भाग लघु था। भारी अधो भाग से पृथ्वी बनी। यह अण्ड गोल नहीं था। वायुपुराण^१ के अनुसार कुभराशि स्थिति चन्द्र के समान शरीरवाला यह अण्ड था। वैदिक विज्ञान हिरण्यगर्भ या प्रजापति से सभी लोक लोकोन्तरों का जन्म मानता है।

क्या यह महदण्ड एक ही था? क्या सूर्य चन्द्र आदि उसी से उत्पन्न हुये? क्या सम्पूर्ण सृष्टियाँ प्रजापति की संतान हैं? इसके उत्तर में विष्णु पुराण, ७/२७, का उल्लेख महत्व का है। अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च। ईदृशानां तथा तत्रकोटि कोटि शतानि च ॥ स्पष्ट है अण्ड एक नहीं अनन्त थे। जो तिर्यक् उर्ध्व और नीचे विद्यमान थे। इन्हीं अण्डों का परिणाम दूरस्थ सृष्टियों (गैलेक्सीज़) है।^२

हिरण्यगर्भ के अन्य वैदिक नामों में वृक्ष (ऋ. १०/८१/४) बृहदुक्ष (शत. ४/४/१/१४) पुरुष, उत्तानपाद (ऋ. १०/७२/४) आदि नाम मुख्य हैं। प्रजापति की लम्बाई चौड़ाई या ऊँचाई के विषय में ताण्डय ब्राह्मण का कहना है कि जितना ऊपर की ओर है उतना ही पार्श्वों में प्रजापति का मान है। प्रजापति का नाम यज्ञ हुआ। (मैत्रांसं०, १/९/३, प्रजापति यह होकर प्रजाओं का स्रजन करता है। उसी से वेद श्रुतियाँ आकाश में हुई।

यह महदण्ड तथा उसका अन्तिम रूपान्तर त्वष्टा प्रजापति था। स्वयंभूः ब्रह्म के अपने ध्यान से तथा वायु के वेगयुक्त होने पर महदण्ड दो टुकड़ों में फटा तथा ध्यान से ही वायु में बल पैदा हुआ। तदनु अन्तरिक्ष, द्यु, पृथ्वी अलग-अलग हुये।^३ ये आण्ड कपाल रजत और सुवर्ण हुये। रजत भाग पृथ्वी और सुवर्ण भाग द्यु हुआ। रजत भाग में आपः सूर्य तेज का कारण हैं। पृथ्वी से आदित्य तक पहुँचने वाले आपः ही प्रधान है। सुवर्ण भाग में तेज। पृथ्वी से

^१ वायु.पु० ४९/१५०

^२ जी.गामो— दी वर्थ रुण्ड डैथ आफ दी सन्, पृ. १८३

^३ वायु.पु. २४/७४, जैमि. ब्रा. ३/३६१, शत. ४/४/४/१

आदित्य तक पहुँचने वाले आपः ही सूर्य के तेज का कारण है। यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि वैदिक विज्ञान इसी क्रम से उत्पत्ति मानता है कि पृथ्वी से नहीं अपितु हिरण्यगर्भ से पैदा हुई। चन्द्र, पृथ्वी से नहीं आदित्य से उत्पन्न हुआ। ग्रह सूर्य से थे। हिरण्यगर्भ सृष्टि का मूल था।

क्षोभ और सम्पीडन :

प्रकृति से महत् तथा क्रमशः अहंकार आदि के उत्पन्न होने का कारण क्षोभ ही था। महाभारत के शान्ति पर्व अध्याय २३८ में सृष्टि क्रम का अत्यन्त वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है। आकाश से महाभूतों की क्रमिक सृष्टि सम्पीडन (Pressure) के कारण ही है।^१ त्रिगुण मय महत् से त्रिगुणान्मक अहंकार पैदा हुआ। तदनु तामस अहंकार से भूतादि हुये। भूतादि के विकार शब्द तन्मात्रा को उत्पन्न किया। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न हुआ। शब्द लक्षण वाले आकाश को शब्द तन्मात्र ने ढूँक लिया। उस शब्द तन्मात्रा से संपीडित आकाश से स्पर्श तन्मात्र को पैदा किया। आकाश ने स्पर्श तन्मात्रा को आवृत कर लिया। आकाश से संपीडित स्पर्श तन्मात्र ने वायु को पैदा किया। वायु ने रूप तन्मात्र को आवृत कर लिया। स्पर्शमात्रा वाले संपीडित रूप तन्मात्रा ने अग्नि को उत्पन्न किया। “शब्दमात्रं तदाकाशं स्पर्शमात्रं समावृणोत्। ससर्ज वायुस्तेनासौ पीड्यमान इति श्रुतिः। स्पर्शमात्रं तदा वायू रूपमात्रं समावृणोत्। तेन संपीड्यमानस्तु ससर्जाग्निमिति श्रुतिः। इसी प्रकार क्रमशः संपीडन के परिणामस्वरूप रस से आपः तथा गन्ध मात्रा से उत्पन्न करके (अतिशीतल वर्फ कणों) को उत्पन्न किया। गन्धमात्रा से संपीड्यमान करके ने काठिन्य को पैदा किया।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आकाश को शून्य मान लेना भ्रामक होगा। आकाश शून्य नहीं है। जब प्रकृति शून्य नहीं है तो उससे उत्पन्न विकार शून्य कैसे हो सकते हैं। यदि आकाश शून्य होता तो उससे संपीडन होना कैसे संभव होगा। महाभूतों से पहले भूत तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं। ये तन्मात्राएँ गुण थीं। (वैशेषिक के गुण से यहाँ अर्थ भिन्न है)। निश्चित ही तब गुणों का अस्तित्व स्वतंत्र और पृथक् था। समस्त वैदिक दर्शन में गुण और द्रव्य को अलग-अलग माना गया हो, जबकि पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने गुण और द्रव्य को पृथक् नहीं माना। गुणों के द्रव्य में प्रवेश करने से द्रव्य का संघात बनलता है। रस के प्रवेश से आपः तथा गन्ध के प्रवेश से पृथ्वी का संघात कैसे बनता है। इन्द्रियों में रूप, रस, गन्ध आदि की पहचान कर लेने की शक्ति प्रत्यक्ष है। परन्तु यह शक्ति इन्द्रियों को कैसे प्राप्त हुई यह विज्ञान के लिये अनुसंधान का विषय है। इन्द्रिय और तन्मात्र समान काल में उत्पन्न होते हैं।^२ तन्मात्राओं तक की सृष्टि अविशेष कही गई हो जो इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। महाभूतों के सत् और असत् दो रूप वेदों में बताये गये हैं।^३ बफून, लैपलेस तथा गेमो आदि पाश्चात्य विद्वान् भूतादि को नहीं समझ

^१ शान्ति. (दा.सं.), २३८/२९-३९ : तेन संपीड्यमानस्तु स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।

^२ वायु पु. १०३/३८ वा “युगवत् संप्रवर्तन्ते भूतान्येवेन्द्रियाणि च ॥

^३ ऋग्वेद : १०/१२९/१- “मैक्समूलर, H.A.S.L. II ed. pg. 559, मैक्डोनल वै.माइ. पृ. १३, विंटरनीत्स, H.I.L. pg. 98

पाये। उनको प्रोटान तथा इलैक्ट्रोनो में आपः और अग्नि का रूप ज्ञात नहीं हो पाया। वे दिव्य आपः से भी परिचित नहीं थे। व्यापक गैस या आप के कारण कार्य रूप का अस्तित्व उन्हें ज्ञात नहीं था।

पृथ्वी

वैदिक मनीषा पृथ्वी को सूर्य से उत्पन्न स्वीकार नहीं करती । उसके अनुसार पृथ्वी हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुई । चन्द्रमा पृथ्वी से नहीं सूर्य से पैदा हुआ । ग्रहादि सूर्य से ही बने । ये ऋषि प्रज्ञा आज की वैज्ञानिक धारणा से मेल नहीं खाती अतः इनके सम्बन्ध में वैदिक विज्ञान का निष्कर्ष प्रस्तुत करना हमारा ईप्सित विषय है।^१

पंचम महाभूत पृथ्वी की संहिति प्रजापति के पैरों की ओर अधिक थी। अग्नि तथा मरुत् के भोग और आपः के स्नेह से घनत्व की वृद्धि होती जा रही थी। मानव धर्म शास्त्र के अनुसार हिरण्याण्ड के दो शकलों से दिव और भूमि का निर्माण हुआ। पहले भूमि बनी तदनु दिव के सूर्यादि ग्रह अस्तित्व में आये। निर्माण क्रम के विषय में ऋग्वेद^२ के मंत्र का स्पष्टीकरण यजुर्वेद^३ में प्राप्त होता है—‘भूतस्त प्रथमजा।’ माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में इस याजुष मंत्र की व्याख्या में कहता है कि, ‘इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा।’ भुवन में पृथ्वी प्रथम उत्पन्न है। दैवी सृष्टि में भूः व्यावृत्ति की उत्पत्ति के समय ही भूमि बनी । स भूरिति व्याहरत । स भूमिमसृजत् । तै.ब्रा., २/२१, ४/२, तथा जैमि. ब्रा. १/१०१) प्रजापति अथवा ईश्वर के व्याहरण से भूमि आदि की सृष्टि हुई । यह भाव बाइबिल^४ में भी है। ऋग्वेदादि^५ में भी यह सत्य उद्घाटित हुआ है—पुराणों में भी यह विचार प्रतिध्वनित होता है। ‘भूरिति व्याहते पूर्वं भूर्लोकश्च ततोऽभवत् । (वायु पु., १/१८), वस्तुतः सूर्य और चन्द्र आदि के निर्माण से पहले भू लोक का अस्तित्व था।

विधाता के संकल्प से ओर वायु के धक्का विशेष से प्रजापति हिरण्यगर्भ से पृथ्वी अलग हुई । यहाँ स्वाभाविक रूप से एक शंका हो सकती है कि जैसे वेग से ऊपर फँका गया पत्थर पृथ्वी का विकार होने से पुनः पृथ्वी पर गिरता है। उसी प्रकार हिरण्यगर्भ का विकार भूमि पुनः हिरण्यगर्भ में क्यों नहीं मिली। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि पृथ्वी बनने के समय यह ऊपर नीचे का वर्तमान भाव नहीं था। फिर भी पृथ्वी नीचे की ओर अलग हुयी । उसमें पार्थिव परमाणु अधिक थे । ऊपरी भाग में पार्थिव परमाणु नहीं थे अतः उनमें आकर्षण नहीं हो पाया । पृथ्वी नीचे की ओर और अधिक नीचे क्यों नहीं गयी । यह तथ्य भी उसी प्रकार अन्वेषण योग्य है जैसे सहस्रशीर्ष पुरुष पृथ्वी से दस अंगुल ऊपर था। भारतीय मनीषा के अनुसार पृथ्वी अर्द्रा, शिथिल अथवा पिलपिली थी। वह

^१ मानव धर्मशास्त्र २/१३

^२ ऋग्वेद, १/१८४, कतरा पूर्व, कतरापरयो.....।

^३ यजु. ३७/४ तथा शतपथ, १४/१/२/१०, तथा ६/५/३/१ “ इयमु (भूमिः) वा एषां लोकानां प्रथमा ऽसृज्यत ।

^४ बाइबिल १/३, ६, ९, १४

^५ ऋग्वेद : १०/७२/४, ‘भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा आजायत । बृहदारण्यक उप. २/२/३, कठोपनिषद. २/३/१, गीता. १४/१, वायु. पु. १०१/१८

पिघली हुयी अवस्था में नहीं थी। पाश्चात्य विद्वान्^१ विचारकों ने पृथ्वी को सूर्य से उत्पन्न माना है अतः वह पिघली हुई थी यह भारतीय सोच नहीं था।

आर्द्रा पृथ्वी का होना इसलिए था क्योंकि वह आपः प्रधान थी। इस सम्बन्ध में काठक संहिता में लिखा है—“आपो वा इदमासन् सलिलमेव । स प्रजापतिः पुष्करपर्णो वातो भूतोऽल्लेलीयत् (अल्लेलायत्— तैत्ति. सं.) स प्रतिष्ठां नाविन्दत । स एतमपां कुलायमपश्यत् । स एत प्रजापतिरपां मध्येऽग्निमचिनुत । सेयमभवत् । ततः प्रत्यतिठप्त् । इयं वाव अग्निः । (२२/९)

आपः में सब लीन था । प्रजापति कमलपत्र में वात हुआ लहलहा रहा था। प्रजापति ने आपों के मध्य अग्नि को चिना । वह यह (पृथ्वी) हुई। यह पृथ्वी ही अग्नि है।^२ श्री ए.वी. कीथ ने तैत्तिरीय संहिता के अनुवाद में सलिल का अनुवाद *Moving Ocean* किया है, जिसका कोई आधार नहीं दिखाई देता।

आपों के बीच में अग्नि जिस प्रकार चिना गया इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता का उल्लेख महत्त्व का है। आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । स एतां प्रजापति प्रथमां चितिम् अपश्यत् । तामुपाधत् । तद् इयमभवत् । (तै.सं., ५/७/४), तथा—‘आपो वरुणस्य पानय आसन् । ता अग्निरम्यध्यायत् । ताः समभवत् । तस्य रेतः पराज्यतत् । तद् इयम् अभवत् । (५/५/४) सब कुछ पहले आपः में ही लीन था। प्रजापति ने इस प्रथम चिति को देखा । उसे स्थापित किया । वह पृथ्वी हुई ।

पृथ्वी की शिथिल और आर्द्रा स्थिति के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का निम्न कथन बहुत उल्लेखनीय है। “अथ शर्कशः सम्भरति । देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधरे। सा हेयं पृथ्वी अलेलायद् यथा पुष्करपर्णमेवम् । तां ह स्म वातः संवहति ।^३ सो पै व देवान् जगाम । उपासुरान् । स यत्र देवान् उपाजगाम । तद्धोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां दूहामहे। तस्मां ध्रुवायाम् अशिथिलायाम् अग्नी आदधामहे। ततोऽस्य सपत्नान् निर्भक्ष्याम इति । तद् यथा शंकुभिः चर्म विहन्त्यात् । एवमियां प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यवृहन्त ।^४ अथात् तव कंकरी को एकत्र करता है। देव और असुप्रजापति (हिरण्यगर्भ) के पुत्र स्पर्धा करने लगे। पृथ्वी कमलपत्र के समान लहलहाती थी। उस पृथ्वी को वात ले जाती थी। कभी वह देवों को कभी असुरों के पास जाती थी । जब वह देवों के पास आई । तब देव बोले कि आओ इसे ठहरने के स्थान को दृढ़ करें। उसमें स्थिर हुई में, ठोस हुई में, दो अग्नियाँ आधान करते हैं। तब इसके शत्रुओं को भाग रहित करेंगे । जैसे

^१ *Biography of the Earth : G.Gomow , Third impression, Pg. 237-38.*

^२ *"The Earth-from the very begining of its existence as a gaseous and later molten, piece of matter torn away from the young Sun by some passing star, down to the very end, when it well be melt ed agian.*

^३ द्रष्टव्य—तुलना हेतु कपिष्ठल सं. ३५/३, तैत्ति. सं. ५/६/४

^४ तैत्ति.ब्रा., १/१/३, पृ. १७

^५ शतपथ ब्रा. ८—१०

कीलों से चमड़े को ठोक देते हैं वैसे इसे ठहराने के स्थान को कंकरों से चारों ओर बृंहण किया।”

उस समय पृथ्वी अति शिथिला होगी। तभी वात उसे ऊपर नीचे ले जाती थी। देवों ने उसे कंकड़ों से दृढ़ किया। ‘परि अबृहन्त’ शब्द से प्रतीत होता है कि पहले बाह्य घेर में बृंहण हुआ। पृथ्वी उत्तरी ध्रुव की ओर इसलिये स्थिर है कि उत्तरी ध्रुव देव-दिशा है। यही कारण है कि पृथ्वी का अधिक भाग उत्तर ध्रुवों में है। दक्षिण में जल की अधिकता है। यही कथ्य मैत्रायणी और काठक संहिता में भी प्राप्त होता है। वे फुदक सकते थे। पृथ्वी शिथिला थी। इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट दिये। उसने पृथ्वी को दृढ़ किया।

आर्द्रा पृथ्वी पर क्रमशः नौ सृष्टियाँ :

आर्द्रा पृथ्वी पर नौ सृष्टियों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। ‘स श्रान्त स्तेपानः फेनमसृजत.....स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापभूष सिकतं शर्करां अश्मानम् अयोहिरण्यम्—ओषधिवनस्पति—असृजत । तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत । तावा एव नव सृष्टयः ।’

उस श्रान्त और तप करते हुये प्रजापति ने क्रमशः फेन, मृत, शुष्कापम्, ऊष, सिकता शर्करा, अश्मा, आयः, हिरण्य तथा औषधि—वनस्पति की नौ सृष्टियों से पृथ्वी को ढंक दिया। इनमें अग्नि और आपों के योग का परिणाम फेन हुआ। ‘ताऽतप्यन्तः’ फेन न सूखा और न गीला था। ‘न वा एष शुष्को नार्द्रो व्युष्टासीत्।’

आपों का शर (मलाई रूपी जल का भाग) घना होने से पृथ्वी बनी। फेन को आपां—अर्कः भी कहा गया है।^१ फेन के घनत्व रूप होने के सम्बन्ध में महाभारत शान्तिपर्व में उल्लेख प्राप्त होता है। उसके अनुसार आकाश से वारि, वारि (सलिल) से अग्नि और मारुत हुये। तदनु अग्नि और मारुत के संयोग से पृथ्वी हुयी। अग्नि और मारुत के संयोग से जल घनत्व को प्राप्त होकर पृथ्वी भाव को प्राप्त होता है। वायुपुराण में कहा गया है कि शीत के कारण उस एकार्णवावस्था में वायु द्वारा आपः संहत (घने) हो गये।^२ शीत या Absolute Temperature का मान २७३ डिग्री सेंटीग्रेड है। फेन आपः का द्रसरूप था। वही फेन कठोर हो जाने पर मृत् बन जाता है। इस पृथ्वी पर दो ही रूप प्रधान है आपः और मृत्। शतपथ के अनुसार वो जो कपाल था यही वह मिट्टी है। स्पष्ट

^१ मैत्रा० सं० १/१०/१३, काठक सं० ३६/७; ८/२, कपिष्ठल सं० ६/७ शतपथ ब्रा.

६/१/१/१३—१४

^२ शतपथ ब्रा. ६/१/३/१२

^३ तैत्ति. ब्रा. : १/७/१/६—७, शतपथ ब्रा. १०/६/३/१—३

^४ शतपथ ब्रा. १०/६/५/२

^५ शान्ति पर्व : १८०/१६, आकाशादभवद् वारि सलिलादग्नि मारुतौ।

अग्निमारुतसंयोगात्ततः सम्भवन्मही ॥

तथा १८१/१५—१६ सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ।

वायु. पु. ८/१० तथा ब्रह्माण्ड पु. २/६/१० शैत्याद् एकार्णवे तस्मिन् वायुना आपस्तु संहता ।

है कि हिरण्याण्ड के आधो भाग की त्वक् मृत् (मिट्टी) बन चुकी थी।^१ जब भूमि हिरण्यगर्भ से अलग हुई तब सलिल रूपा थी। उसमें पार्थिवपरमाणु जल लीन थे। सलिला भूमि में फेन पैदा हुआ। कपाल के बाह्य और फेन के कारण मृत्तिका उत्पन्न हुई।^२

अल्पा पृथ्वी: एतद् यह उपर्युक्त रूप विस्तार की दृष्टि से अल्प था। विभिन्न वैदिक संहिताएँ यह स्वीकार करती हैं। पृथ्वी का आरंभिक परिमाण वरुह चषाल, उत्तरवेदि अथवा प्रादेशमात्र अति अल्प विस्तार वाला था। ऋग्वेद ने पृथ्वी को विस्तृत करने का उल्लेख करते हुये कहा है कि 'स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च। (१/१०३/२) वायु और ब्रह्माण्ड पुराण भी इसका आभास देते हैं।^३ पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन सर्ग के आरंभिक काल का है। मन्वन्तर के अन्त में प्रलयोपरान्त पृथ्वी के पुनः प्रकट होने की प्रक्रिया भिन्न है।

पृथ्वी की तोसरी अवस्था शुष्काप है। सूख गये आप जिसके यही अर्थ है — 'शुष्काप' का। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शुष्काप से पूर्व सूर्य उत्पन्न हुआ था। उसी की गर्मी से आप: सूखे। तदनु समुद्रों की जलरहित अवस्थाएँ पैदा हुई। उस समय पृथ्वी 'कूर्म—पृष्ठ—निभा थी।

पृथ्वी तल के जलों के शुष्क हो जाने पर उष (ऊसर) भूमि प्रकट हुई। 'उषान् निवपति.....द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम्।.....यद्मुप्या यज्ञियमासीत् तदस्यामदधात् त ऊषा आभवन्।.....(तैत्ति० सं. ५/२/३), जो द्यु का यज्ञिय भाग था वह इस पृथ्वी में रखा वे ही उष हुये। कपिष्ठल संहिता और शतपथ ब्राह्मण भी लगभग यही विचार रखते हैं तमनयोर्द्यावापृथिव्यो रसं मन्यते।^४ ऊषर द्युलोक और पृथ्वी लोक का रस है।

ऊसर भूमि का पशुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये पार्थिव पशु नहीं थे। पशु शब्द का आधिदैविक अर्थ जानना जरूरी है। द्यु और अन्तरिक्ष लोक से उत्पन्न वे कण, रेणु अथवा पांसु जो अधेरी रात में अन्य किसी प्रकार देखे जाय वे पशु हैं। शतपथ ब्रा. का कहना है कि (प्रजापतिः) तेषु (पशुसु) एतम् (अग्निं) अपश्यत्। तस्याद्वैवैते पशवः। (६/२/१/४) संभवतः इन पशुओं में प्रजापति ने जिस अग्नि को देखा वह सौर तथा भौतिक अग्नि का योग था। अग्नि योग के कारण ही वे दृष्ट हुये। अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर ऐसा ही कहा गया है।^५ भाव यह है कि अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, मरुत् और वयांसि (पार्थिव पक्षी नहीं) आदि का

^१ शतपथ ब्रा., ६/२/३/३, 'स (फेनः) यदोपह्वयते मृदेव भवति। ६/४/१/३, ६/३/१/४८, १४१/२/९

^२ तैत्ति ब्रा. २/१/, अथ वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीद्.....। तथा मैत्रा.सं. यावद् वैवराहस्य चाषलं तावतीयमग्रमासीत्। का.सं. २५/६/२५/६.....यावती, उत्तरवेदिः। शत.ब्रा. ८/१/२/११ इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री, तामेमूष इति वरुह उज्जधान।

^३ वायु.पु. ७/५६, ब्रह्माण्ड पु. १/५/१३४

^४ कपि.सं. ७/५६, ब्रह्माण्ड पु. १/५/१३४

^५ ऐत.ब्रा. २/६, तैत्ति.ब्रा. १/१/४/३, शत.ब्रा. ६/४/१/२, ६/१/४/१२, कपिष्ठल सं. ३२/१९

पशुओं से सम्बन्ध है।¹ आन्तरिक्षस्थ रुद्रका विद्युत के साथ सम्बन्ध है। अन्तरिक्ष स्थित पशु रुद्र से अग्नि योग प्राप्त करते हैं। इसी कारण रुद्र पशुपति हैं। रुद्र का वाहन आखु भी अन्तरिक्षस्थ पशु है। द्युलोक की प्रजायें पशु कही गयी हैं।² पृथ्वी का ऊसर भाग मात्र पार्थिव परिणाम नहीं है। उसमें उक्त पशुओं का योग भी है। सोडियम नाईट्रेट या पोटेशियम नाईट्रेट जो ऊसर है, में लवण भी होता है। सुश्रुत ने लवण को आग्नेय माना है।³ ऊसर बनने से पूर्व ही पृथ्वी का पर्याप्त विस्तार हो चुका था।

ऊसर के पश्चात् सिकता की उत्पत्ति हुई। मृत्तिका तप्त होने पर सिकता बनी। 'स (मृत्) अतप्यत् सो सिकता असृज्यत।' (शत. ६/१/३/४) वैश्वानरग्नि और आदित्य की भस्म सिकता हैं। 'अग्नेयी एतद्वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकता।' (कपि. ३१/९) आदित्य पृथ्वी के कभी अति निकट था। पृथ्वी के ऊपरी ही नहीं पर्याप्त नीचे भी वालू (सिकता) मिलती है। चमकीली निश्चय ही वैश्वानर अग्नि की भस्म है।⁴ शतपथ ने शुक्ला और कृष्णा दो प्रकार की सिकता बताई है। शुक्ला में आग्नेय तथा कृष्णा में आपः का भाग अधिक है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (भाग २० पृ. ६५५) में लिखा है कि ग्रहों एवं तारों के विभिन्न भागों में रेत पाया जाता है। SiO_2 में सिलिकोन और आक्सीजन होता है। सिलिकोन स्वतंत्र नहीं मिलता। आक्सीजन (वैश्वानरग्नि?) से उसकी घनिष्ठता है।

सिकता के बाद शर्करा पैदा हुई। सिकताम्यः शर्कराम्।⁵ शर्करा का अर्थ है कंकर। वैदिक ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। काठक का कहना है कि तेज ही अग्नि में रखा जो शर्करा है। 'तेजो वा आग्ना अद्ध्युच्छर्कशा।' (८/१२) इन्द्र ने वृत्र को वज्र से मारा।⁶ वज्र के शर (छोटें) शर्करा हो गये। पहाड़ों पर हिमपात के समय गिरने वाले हिमकणों के लिये बजरी (वज्र) कहा जाता है। शतपथ एवं कौषीतकि 'वज्रो वा आपः तथा 'आपः प्रथमं इति वज्ररूपम्।' कहते हुये आप के हिमभूत कंकरों को वज्र कहा है।⁷

पृथ्वी पर ऊसर और सिकता पैदा होने पर पृथ्वी का आन्तरिक भाग कठोर नहीं हुआ था। तब पृथ्वी के आन्तरिक भाग में शर्करा की उत्पत्ति होने पर पृथ्वी का आन्तरिक भाग भी कठोर हुआ।⁸ शर्करा के अनन्तर अश्मा (पत्थर) पैदा हुये। शर्करा या अश्मानम् (असृजत्) तस्मात् शर्कराश्मैव अन्ततो भवति। (शत. ब्रा.) (६/३/३/३) शर्करा के छोटे छोटे कण संपीडन द्वारा संहत होकर अश्मा बन

¹ शत. ब्रा. ४/४/१/१५, तैत्ति. ब्रा. ३/२/१/३, ऐत. ब्रा. ३/१९, शत. ब्रा. ८/३/२/९, ९/३/३/७

² शत. ब्रा. ३/७/३/९ : दैव्या वा एता विशो यत् पशवः।

³ सुश्रुत. सं०, ४२/७, चरक सं. २६/४

⁴ शत. ब्रा. ३/५/१/३६ "प्राजन्त इव हि सिकता। आग्नेर्वा एतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकता।

⁵ शत. ब्रा. ६/१/३/५

⁶ मैत्रा. सं. १/६/३, तैत्ति. सं. ५/२/६

⁷ शत. ब्रा., २/२/४/३, १२/२

⁸ मैत्रा. सं. १/६/३, कपिष्ठल ६/६, काठ. सं. २/१

गये। अश्मा के बाद लोह (अयः) पैदा हुआ—अश्मनो लोहमुत्थितम्^१ लोह प्रथम धातु है। तदनु क्रमशः रंगा, सीसा आदि धातु हुई। हिरण्य अन्तिम धातु है।

औषधि और वनस्पति के पैदा होने से पूर्व पृथ्वी गंजी थी^२ रोहिणी नक्षत्र ने पृथ्वी पर इनकी उत्पत्ति में सहायता की। औषधि उत्पत्ति में सोम का सहाय्य प्रमुख था। सोम औषधियों का अधिपति है। द्युलोक स्थानीय सोम को पृथ्वी पर लाने में वृत्र और सूर्य किरणें सहायक होती हैं। जैमिनी ने कहा है कि सोम का आहरण सुपर्ण ने किया। भेदन किया। उसके जो छींटें गिरे वे ही औषधियाँ हुई। सब औषधियाँ सौम्य हैं।^३

बीज की उत्पत्ति : सोम तथा पृथ्वी के संयोग से पहले बीज बना। तदनु औषधि और वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। शान्ति पर्व बीज पहले बना मानता है—बीजमात्रं पुण सृष्टम्। (१८४/१५) बिना बीज के कुछ उत्पन्न नहीं होता। औषधियों की आरंभिक अवस्था के सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता का कथन अति महत्वपूर्ण है। प्रजापति के अनन्तर वीरुत् उगे। देवत्व (अग्नित्व) से रहित औषधियों को प्रजापति ने हिंसित करना चाहा परन्तु नष्ट नहीं कर सका। उसने विचार किया, तप किया तब अग्नि उत्पन्न हुआ। उस अग्नि का वीरुषों का तेज प्राप्त हुआ। तेजहीन होने पर जो पहले नहीं सूखती थी वे लतादि सूख गई।^४ औषधियों का मूल भाग सोम प्रधान रहता है। ऊपर का भाग अग्नि प्रधान होता है। जड़ नहीं उनके ऊपरी भाग सूखते हैं।^५

आग्नेयी पृथ्वी :

संस्कृत के विज्ञान ग्रन्थों में पृथ्वी को प्रायः आग्नेयी कहा गया है। आग्नेयी पृथिवी। (ताण्ड्य ब्रा. १५/४/८) आग्नेयोऽयं लोकः। (जैमि. उप. १/३७/२) दूसरे लोकों के स्थान पर इस लोक को प्रधान रूप से आग्नेय कहा गया है। इसका कारण है कि अनेक पार्थिव पदार्थों में आग्नेय योग अधिक है। यथा गन्धक (शुल्वारि) में यह अधिक है। ऐसे ही शमी, अश्वत्थ और गुग्गुलु, वेणु, मुंज में अन्य काष्ठ से अधिक अग्नि है। जो धातु अधिकाधिक ताप से पिघलती है। उसमें आग्नेयता कम होती है। गन्धक युक्त पदार्थ इसीलिये आग्नेय है। शतपथ ने इस तथ्य का समर्थन किया है—गन्धो हैवास्य (अग्नेः) सुगन्धितेजन्म्। (३/५/२/१७) तथा कपिष्ठल संहिता, ३९/४, सुवर्ण भी आग्नेय है।

अग्निगर्भा पृथ्वी : पृथ्वी की सतह पर अधिक अग्नि नहीं है। शतपथ कहता है कि अग्निगर्भा पृथिवी। (१४/९/४/२१) यजुर्वेद एवं उसके ब्राह्मण ग्रन्थ भी यही मानते हैं।^६ पृथ्वी के गर्भ में अग्नि है। तीन वृत्तों वाली पृथ्वी है। ये वृत्त क्रमशः

^१ तैत्ति. सं., ४/७/५, महाभारत उद्योगपर्व

^२ मा.शत. १/२/४/३, का.शत.१/२/४, मैत्रा.सं.,१/६/९/२, २/५/२, तैत्ति.सं., ७/४/३९, ताण्य ब्रा. २०/१४/५

^३ जैमि. ब्रा. १/३५५

^४ मैत्रायणी सं. 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् तं वीरुषोऽभ्यरोहन्। असूर्यो वा एता यदोषधयः। ततोऽग्निरसृजत। तं अग्निं सृष्टं वीरुषां तेजोऽगच्छत्।

^५ तैत्ति. सं., ५/१/१०, मैत्रा.सं. ३/१/९, २/१/५, शत.ब्रा. २/३/६/४,

^६ शत.ब्रा. ६/५/१/११, यजु., ११/५७, माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं विभर्तु गर्भ आ।

अग्नि, पृथ्वी एवं ओषधियाँ हैं।^१ अग्नि सबसे अन्दर, उसके चतुर्दिक पृथ्वी और पृथ्वी पर ओषधियाँ हैं। आज वैज्ञानिक मानते हैं कि पृथ्वी कभी पिछली चट्टानों का जलता गोला था। अध्ययन से सिद्ध है कि आज भी पृथ्वी का अधिकांश भाग पिछली दशा में है। ठोस पृथ्वी तो तुलनात्मक दृष्टि से चादर जैसी पर्त है। पृथ्वी में प्रति सहस्रफुट नीचे १६ डिग्री फारेनहाइट ताप बढ़ता है।^२

भारतीय मनीषा अनुसार पृथ्वी आरम्भ में आग्नेयी नहीं थी। तैत्तिरीय और कपिष्ठल संहिता के अनुसार पृथ्वी अग्नि के अतिदाह से डरी। शान्तिपर्व दारुगत अग्नि कहकर स्पष्ट करते हैं कि वृक्षों में अग्नि का प्रवेश होता है। मैत्रायणी संहिता भी कहती है कि 'गर्भो अस्योषधीनां गर्भोवनस्पतीनाम् ।'^३ दाह शक्ति करने की धारण वाली 'ओषं धय इति' ओषधि होती है। ये पृथ्वी गत आग्नेय अंश को ग्रहण करती है। यह अग्निप्रवेश जल के साथ होता है।

ये अग्नियाँ पीछे पृथ्वी के अन्दर प्रविष्ट हुईं। ये अग्नयः पुरीषिण आविष्टा पृथ्वीमनु । (कपि. सं. ३५/३), पुरीष पद निषण्डु में जल नामों में पढ़ा गया है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार प्राचीन तीन अग्नियों पृथ्वी में प्रविष्ट हो गईं।^४ इस प्रकार पृथ्वी अग्निगर्भा है।

परिमण्डला पृथ्वी :

इस समय तक पृथ्वी प्रायः अपने रूप में स्थित हो चुकी थी। इस पृथ्वी का आधार परिमण्डलाकार है— जैमिनीय ब्राह्मण—परिमण्डला इयं पृथ्वी । (१/२५७) मात्र पृथ्वी ही नहीं आदित्य, चन्द्रमा, द्यौ और अन्तरिक्षवा सब परिमण्डल रूप (गोल) हैं। परिमण्डल का अर्थ है— सब ओर मण्डल अथवा घेरा (Atmosphere) है तथा गोल आवृत को भी परिमण्डल कहा गया है। सारा द्युलोक परिमण्डल है। वैशेषिक दर्शन में परिमण्डल परिमाण मिलता है। वहाँ परिमण्डल शब्द परम महत् या सर्वव्यापक परिमाण है। ऐसा ही मत पाश्चात्य विद्वानों का है।^५

आइंस्टीन^६ का मत है कि प्रकाश किरणें सीधी रेखाओं में गुरुत्व शक्ति के कारण नहीं चलती। ऋग्वेद ने यह सत्य उद्घाटित करते हुये कहा गया है कि तिरश्चीनो विततोः रश्मिः । भारतीय मनीषा इस विषय में भी एक मत है कि सम्पूर्ण संसार भूतों के घेरों से घिरा हुआ है।^७ उनके परे महत्तत्त्व तथा उसे बाहर प्रकृति का घेरा है। इससे आगे त्रिपाद अमृत पर ब्रह्म है। जहाँ देश, काल, नहीं है। देश काल इन्द्रियों के विषय है। इन्द्रियों का जन्म भी देश—काल में हुआ। वे अपने मूल से परे नहीं जा सकते। पर ब्रह्म सबसे परे है। वही अनन्त है शेष सम्पूर्ण संसार सान्त और प्रकृति से आवृत है।

^१ ताण्ड्य ब्रा. १०/१/१, "अग्नि, पृथिव्य—ओषधिभिः तेनायं लोकः त्रिवृत ।

^२ कपि. सं. ३१/११, ३१/५ तुलना करें—कपि. ३१/५ तथा तैत्ति. सं. ५/२/५

^३ शान्ति पर्व, ११२/५६, मैत्रा. सं. २/७/१०

^४ जैमिनीय ब्रा., २/४१, 'त इमास्तिष्ठः पृथिवीः प्रविविशुः ।

^५ The Universe and Einstein, P. 105

^६ वही, पृ. १०३

^७ वायु. १०१/५२—७४

अयस्मयी पृथ्वी : यह धरा लोह धातु से परिपूर्ण है। महिदास ऐतरेय का प्रवचन है। असुर शक्तियों ने पृथ्वी को लोहयुक्त बनाया । ते (असुर) वा अयस्मयीम् एवेमां अकुर्वत् । (ऐ.ब्रा., १/२३), कौषी.ब्रा. ८/८) ऋग्वेद में भी पृथ्वी को आयसी कहा है।^१ पृथ्वी के चुम्बक क्षेत्र के कारण पर संदेह करते हुये गेमो ने कहा कि किसी स्थिर चुम्बक क्षेत्र का भूगर्भ में होना विश्वसनीय नहीं है। श्री लिंकन बार्नेट इसके विपरीत विचार प्रस्तुत करते हैं।^२

पृथ्वी का एक नाम सर्पराज्ञी भी है। कारण है कि यह सर्पण करने वालों में श्रेष्ठ है । इयं वै सर्पराज्ञी । इयं हि सर्पतो राज्ञी । (ऐत.ब्रा. ५/२३) देवा वै सर्पाः । तेषां इयं राज्ञी । (तैत्ति.ब्रा. २/२/६/२) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'इमे वै लोकाः सर्पाः । ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च । (शत.ब्रा. ७/४/१/२५) पृथ्वी के साथ उसका साग मण्डल भी सर्पण करता है। शतपथ वचन के अनुसार पृथ्वी और आदित्य प्रायः समान रूप से सब देवों के आयतन हैं।^३ स्पष्ट है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ सब देवों के आयतन है। भूत चतुष्टय और सारे प्राण (Gases) देव हैं।

यह पृथ्वी विस (छिद्र) और दधि रूपा है। 'यानि विसानि तान्यस्मै पृथिव्यै रूपम् । (शत.ब्रा. ५/४/५/१४) पृथ्वी का ऊपरी संहत भाग दधि कहा जा सकता है। दही के ऊपर जैसे मलाई होती है जो अधिक संहत होती है इसी प्रकार पृथ्वी भी है।

^१ ऋ. ७/१६/१४

^२ Biography, P. 14 and The Universe and Dr. Finstein, P. 15

^३ शतपथ ब्रा. १४/३/२/४-२

अन्तरिक्ष

मानव धर्मशास्त्र एवं पुराणों आदि में हिरण्यगर्भ या प्रजापति आदि समस्त जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख एक ही महदण्ड से मिलता है। कुछेक पुराणों में कोटिशः अण्डों का भी उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य-शिष्य-माध्यन्दिन ने महदण्ड से उत्पन्न अलग-अलग आण्डों से तीन लोकों की रचना के सम्बन्ध लिखा है। उनके अनुसार अन्तरिक्ष का सृष्टि रचना में द्वितीय स्थान है। यथा—

‘सोऽकामयत प्रजापतिः । भूय एव स्यात् प्रजायेत इति । सो अग्निना पृथिवीं मिथुनं समभवत् । ततः आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत् । पुष्यतु इति पुष्यतु । भूयोऽस्तु इत्येव तदब्रवीत् । स यो गर्भोऽन्तरासीत् स वायुरसृज्यत । अथ यदश्रुसंक्षरितमासीत् तानि वयांसि-अभवन् । अथ य कपाले रसो लिप्तमासीत्! ता मरीचयौऽभवन् । अथ य कपालमासीत् तदन्तरिक्षमभवत् । (शतपथ ब्रा. ६/१/२/१-२)

इस व्याख्यान के अनुसार वह जो कपाल था वह अन्तरिक्ष बना । उक्त व्याख्यान में जो उल्लेखनीय तथ्य है वे सात हैं—अग्नि और पृथ्वीका मिथुन; अण्ड से आण्ड की उत्पत्ति; आण्ड के अन्दर गर्भ; वायु सृजन; वयांसि उत्पत्ति, मरीचिका उद्भव, अन्तरिक्ष का अस्तित्व ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष के घटनवाले तथ्यों का किंचित् मात्र भी ज्ञान नहीं था। यूनानी ग्रन्थों के आधार पर वे इसे ईथर या किसी अनुमानित द्रव्य का स्थान मानते थे। तदनु शून्य या स्पेस का विचार प्रकट किया गया। कालान्तर में कॉस्मिक रेज का अस्तित्व स्वीकार किया गया । अब शून्य में गैस आदि किसी सूक्ष्म द्रव्य को वैज्ञानिक मान्यता देते हैं। हमारा विनम्र निवेदन है कि अन्तरिक्ष के यथार्थ को जाने बिना पृथ्वी की माया एवं सौर मण्डलीय क्रियाएँ समझी नहीं जा सकती । पृथ्वीगत चुम्बकीय प्रभाव इसका उदाहरण है। सूर्य से वर्षा का सम्बन्ध भी अन्तरिक्ष के कारण है । वैदिक ग्रन्थों में अन्तरिक्ष का विशद् वर्णन है। उसके अनुसार—

व्यापक आपः में प्रजापति था। प्रजापति से भूलोक पृथक हुआ। तब आपः में उपस्थित अग्नि का पृथ्वी से मिथुन हुआ । यह मिथुन किस प्रभाव का परिणाम था यह ब्राह्मण ग्रन्थ में स्पष्ट नहीं है। प्रजापति की कामना कैसे हुई? प्रजापति की नाभि से अन्तरिक्ष-उत्पत्ति का सम्बन्ध है। यथा—नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षम् । (ऋ. १०/१०/१४), अन्तरिक्ष में वायु का प्रधान स्थान है।

वायु सृजन में मृत वायु पहले से ही विद्यमान था। यह वायु कालान्तर में पैदा हुआ है। इसमें वहने की विशिष्ट शक्ति उत्पन्न हुई । यह वायु अन्तरिक्ष में रूप में दीप्त रहता है। ‘आयुर् अन्तरिक्षे (दीप्यते) । (जैमि.ब्रा. १/१९२) यजुर्वेद में भी ऐसा विचार प्रस्तुत हुआ है—वायुरसि तिग्मतेजाः । माध्य. १/२४) शतपथ में याज्ञवल्क्य ने स्पष्टतम भाव प्रस्तुत किया है— प्राणेन वाङ्मिनीदीप्यते । अग्निना वायु। आदित्यः। आदित्येन चन्द्रमा । (शत.१०/६/२/११) प्राण से अग्नि दीप्त

होता है। अग्नि से वायु, वायु से आदित्य और आदित्य से चन्द्रमा दीप्त होता है। हमारा अभिमत है कि वयांसि, मरीचि, और पशु आदि अन्तरिक्ष में अग्निजन्य है। उनमें आग्नेय—अंश, जो वायु दीप्ति का कारण है— ताण्डय ब्राह्मण वायु के तेज का उल्लेख है— वायोष्ट्वा तेजसा । सूर्यस्य त्वा वर्चसा । (१/७/३)। अन्तरिक्ष में सूर्य रश्मियों की ऊपर से नीचे की ओर गति के समान वायु की गति नहीं होती । वायु तिरछी गति में प्रवाहित होता है। इसका कारण है— अन्तरिक्ष में स्थित मरुत समसा अन्तरिक्ष में और पृथ्वी मण्डल के ऊपर और मध्य में एक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। इसी कारण वैद्युत वायु ओर अपरा वायु की तिर्यक् गति हो जाती है।

तस्माद् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यक् पवते । (जैमि.ब्रा. ३/३१०) वायु की नाड़ियों का उल्लेख विष्णु पुराण में प्राप्त है। वायुनाड़ीमयैर्दिवि । (२/९/९) ये नाड़ियाँ छुलोक तक जाती है। वायु के बंधन में ही बंध कर तारे नक्षत्र, सूर्य चन्द्र आदि अपनी गति से भ्रमण कर रहे हैं। वायु सूत्र में सभी लोक बंधे हैं।^१

इन्द्र, अग्नि, आदित्य एवं वायु आदि देव पहले मर्त्य थे मरणधर्मा थे । वयांसि अग्नि से उत्पन्न हुये। उन्होंने अन्तरिक्ष को अपना आयतन बनाया । वयांसि जतो कि अग्नि के धूम कण है, उन्होंने अग्नि को अमृत किया ।^२ प्रकृति का विकार इस संसार में और देवों में अमृतत्व पहले आया। सूर्य जो पूर्व में रोचना रहित था चमकने लगा। चन्द्र जो पूर्व में पृथ्वी को प्रकाशित नहीं करता था प्रकाश देने लगा । ग्रह जो अपनी ही या अपने ज्ञाति की राशि में चक्र काटते थे विविध राशियों में घूमने लगे। तभी से सूर्य—चन्द्र उपराग को प्राप्त हुये । ये सभी घटनायें पारस्परिक स्थैर्य नियम से घटित हुयीं जिसे पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने (Law of mutual stability) का नाम दिया।

वायु के साथ वयांसि पैदा हुये यह सामान्य उल्लेख शतपथ में प्राप्त है।^३ अन्तरिक्ष स्थित वयांसि प्रजापति की प्रजाएँ एवं द्विपाद हैं। प्रथम वयांसि अन्तरिक्ष के निर्माण के समय बने । वयांसि का विवेचन पूर्व में भी किया जा चुका है। अन्तरिक्ष का वर्ण श्वेत है। अन्तरिक्ष में असुरों ने रजत पुरी बनाई । रजतां अन्तरिक्षम्। (ऐत.ब्रा. ८/२३) यही श्वेत रूप मरुतों में प्राप्त किया । अन्तरिक्ष में रजतपुरी मरुतों के कारण बनी । मरुतों में विद्युत प्रभाव है। जिनके कारण ही मरुत श्वेत रूप हुये । अग्निजिह्व मरुतों का प्रभाव दिशाओं तक पहुँचता है। दिशायेँ मरुतों की गति और इनके चक्र को सम्यक् बनाये रखती है। सूर्योदय का आभास अन्तरिक्ष में मरुतों के कारण होता है।

^१ विष्णु पु. २/९/३, शतपथ ब्रा. ८/४५/३/१०, 'तदसावादित्य इमान् लोकान् सुत्रे समावयते तद् यत् तत् सूत्रं वायुः सः ।

^२ ऋग्वेद १०/४५/८, अग्निः अमृतोऽभवद् वयोभिः । तथा १०/१४०/१, धूमो वा अस्य श्रवो वयः । शत.ब्रा., १/१/२/१२, मर्त्याः ह वा ऽजगे देवा आसुः ।

^३ शत.ब्रा., २/५/१/१, 'तस्माद् द्विपादो वयांसि ।

वायु के साथ मरीचियों का भी जन्म हुआ । इनका जनक अग्नि भी है। यही कारण है कि इनमें आग्नेय अंश पाया जाता है । जैमिनीय ब्राह्मण इन्हें विस्फुलिंग कहता है। मरीचयो विस्फुलिङ्गाः । (१/४५) अन्तरिक्ष विज्ञान जानने के लिये आपः, अपां—नपात्, वायु, वयांसि, मरुतगण, पशु, सर्प, रजः और दिशाओं का स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सबका निवास अन्तरिक्ष में है। अन्तरिक्ष शून्य नहीं है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि मरुतों के सात गण है। सात—सात मरुतों का एक गण, कुल मरुत संख्या ४९ है।^१ यजुर्वेद तीन प्रकार के मरुत कहता है— सान्तापन, गृहमेधी और क्रीडी।^२

जहाँ तक रश्मियों का प्रश्न है ये मरुत ओर आपःकणों की विद्युत युक्त रश्मियाँ हैं। ऋग्वेद इन्हें 'वातत्विष' वात की दीप्ति वाले कहा है। उनकी दीप्ति सूर्य किरणों के समान है। सूर्यस्येव रश्मयः । (ऋ. ५/५५/३) ये विद्युन्महसः (विद्युतयुक्त) हैं। आभास किया जा सकता है कि मरुत् रश्मि रूप है। यास्क मध्यमस्थानीदेवों में मरुतों को प्रथमागामी कहा है तथा ऋग्वेद १/८८/१ मंत्र उद्धृत करते हुये मरुतों के दो विशेषण दिये हैं।^३ 'विद्युन्मद्भिः मरुत और स्वर्क' । मरुत कण जब तक विद्युतयुक्त न हों तब तक ऐसा रूप धारण नहीं कर सकते । यह इनका सनातन स्वरूप है। मात्र मेघ के समय का ही नहीं । मैकडोनल महोदय ने मरुतों को तड़ित से जोड़ा है । तथापि वे उनमें विद्युत का अभाव मानते हैं।^४ जिन मंत्रों में दिव्य आपः अग्नि के हृदय आधिन्दन का कथन है तथा वात रश्मियों के ज्ञान का परिचय मिलता है। उनमें विद्युत ज्ञान का नहीं है। यह तो किसी अबोध का कथन तो हो सकता है। वस्तुः मरीचि आदि मरुत् रश्मियों का बोध कराते हैं।

अन्तरिक्ष आपः से व्याप्त है। ये मरुत उसी आपः में रहते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण ५/४ ऐतरेय ब्राह्मण ६/३० मानते हैं कि आपों में मरुत आश्रित है। आपः, अग्नि और पृथ्वी के योग से मरुतों का जन्म होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण^५ में मरुतों की आन्तरिक्षक माया का एक वैज्ञानिक रहस्य उद्घाटित हुआ है कि मरुतों ने आपः से अग्नि ज्वाला को शान्त किया । शान्त ज्वाल अग्नि के हृदय को तोड़ा तो वह अशनि हुई । अशनि और दिव्य अशनि में भेद है कि दिव्य अशनि, अशनि की भाँति मरणधर्मा नहीं है। साधारण अग्नि दिव्य अशनि तब बनती है जब अग्नि के प्रत्येक कण के मध्य जो अन्तरतम परमाणु स्वरूप उसका हृदय है वह हृदय (Electron) के टूटने से अशनिः उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त अग्नि हृदय का अन्य कोई अर्थ हो ही नहीं सकता । उल्काओं के ५ भेदों तारा, धिष्ण्या, उल्का, विद्युत, और अशनि में प्रत्येक क्रमशः अधिक बलशाली है। धरातल को फाड़ सकने वाली महाचक्र की भाँति नभस्थल से आने वाली अशनि

^१ ऋग्वेद , ५/५३/१०, यजुः ३/४५, ७/३७, ताण्ड्य ब्रा. ९/१४/२, शत.ब्रा. ९/३/१/२५

^२ यजुः २४/१६

^३ ऋग्वेद , ५/५७/४, ५/४/४/४२, ५/५/५४

^४ वैदिक रीडर, पृ. २१

^५ ऐत.ब्रा. १/१/३/१२ मरुतोऽदिभरिग्नमतमयम् । तस्य तान्तस्य हृदयम् आधिन्दन् तथा कपि. सं. ६/७.....सां, दिव्याशनिरभवत् ।

सबसे वलशाली होती है। पराशर के अनुसार विद्युत पूर्व में सूर्यकान्ता, दक्षिण में शतहृदा, पश्चिम में तडित् और उत्तर में सौदामिनी कही गयी है। ये भेद, प्रभेदों मरुतों के कारण है। यहां यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि विद्युत और चुम्बक दो पृथक् वस्तु नहीं है क्योंकि विद्युतधारा के साथ चुम्बकीय शक्ति विद्यमान रहती है। ये दोनों ही वैद्युत-चुम्बक क्षेत्र बना कर रहते हैं जिनसे प्रकाश रश्मियाँ अपना कार्य करती हैं। ऋग्वेद (१/८८/५) में मरुतों को अयोद्रष्ट और हिरण्यचक्र कहा है। ये दोनों चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। ये मरुत ही है जो अन्तरिक्ष में वैद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र पैदा कर दिशाओं को स्थिर रखती है। मरुतों की गति छन्दों (Waves) में होती है। जैमिनीय ब्राह्मण (३/३८१) मरुतों को ईशानमुख (उत्तर-पूर्व) दिशा में गतिमान बताता है। ऋग्वेद भी इसका समर्थन करता है।^१ मरुत अग्निजिह्व भी है। (ऋ., १/४५/१४) दिशायेँ मरुतों की गति और चक्र को सम्यक् बनाये रहती है। अन्तरिक्ष में सूर्योदय का आभास मरुतों के कारण होता है। वृष्टि व्यवस्थापन में मरुत सहायक है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदि आण्ड से मरीचि जन्में तदनु दीप्तियुक्त विद्युत से अन्तरिक्ष में मरुत् पैदा हुए।^२

अन्तरिक्ष में जैसे नर^३ है वैसे ही पशु^४ भी है। अन्तरिक्षस्थ पशुओं का जन्म प्राण, आपः और अग्नि के परमाणुओं के योग से हुआ।^५ ऋग्वेद इन्हें वायव्य पशु कहता है—पशुन्तांश्चक्रे व्ययव्यान् । (१०/९०) ये पशु चमकीले हैं। ये पशु अन्तरिक्ष की माया है। ये पृथ्वी से द्यु लोक तक पहुँचते हैं। पशुओं को रूप देने वाला त्वष्टा है।^६ ये पशु अग्नि मुख है। अग्निमुखान् वै प्रजापतिः पशून् असृजत् । पशवो मरुताः (मैत्रा. सं. ३/३/१०) इन पशुओं की संख्या अनेक है यथा—पृथ्वी के द्युलोक तक पहुँचने वाले अश्व, रुद्र और वृषभ आदि है। अन्तरिक्ष का वैल मरुत वाला भूर और श्वेत है।^७ पशुओं के अनेकशः भेदों का कारण मिथुन में स्पर्श, संपीडन, रजोवीर्य का सिद्धान्त काम करता है। अन्तरिक्ष में वायु आपः, अग्नि और पृथ्वी के परमाणु अनेक संयोग पैदा करते हैं। उनमें स्पर्श और संपीडन विभिन्न प्रकार का होता है और उन परमाणुओं का दिव्यत्व भी भिन्न होता है। इन सबके संयोग और वियोग से अन्तरिक्ष में अनेकशः पशु पैदा होते हैं। आपः के कारण ये सब पशु एक मत हैं। वायव्य पशुओं का प्रिय धाम ऊसर भूमि है। इन पशुओं का रूप रोहित है।^८ आग्नेय मारुत और आपः परमाणु

^१ बृहस्पतिवचन अद्भुतसागर, पृ. ३२२, ३२४, ३५०, ३५१, पर उद्धृत ।

^२ ऋग्वेद, १/६४/५, १/८७/४, ईशानकृत तथा ईशानः । ईशान रुद्र का स्थान है।

^३ शत. ब्रा. २/६/१/२ ऋ. १/२३/१२

^४ ऋ. १/११०/६, अन्तरिक्षस्य नृभ्यः, १/१४६/४, १/५०/५

^५ शतपथ ब्रा. ६/२/१/४, ऐत. ब्रा. २/६, तैत्ति. ब्रा. १/१/४/३, कपि. सं. ३१/१९

^६ तैत्ति. ब्रा. ३/२/८/९ प्राणाः पशवः । जैमि. ब्रा. आपो वा एते. यत् पशवः । मैत्रा० सं०, १/४/९, पशवो वै सलिलम् । कपि. सं., ३८/१, आग्नेया वै पशवः । जैमि. ब्रा. २/२३१

^७ तैत्ति. ब्रा. २/५/७/५

^८ ऋ. २/३३/६-८

^९ ताण्ड्य ब्रा. १६/६/२, कपि. सं. ३७/३,

संश्लिष्ट होते हैं तथापि ये पशु अश्लिष्ट और स्वेच्छाचारी हैं।^१ निघण्टु १/१५, में जिन दस पशुओं के नाम हैं वे सभी अन्तरिक्ष के पशु हैं।

कास्मिक रेज (मारुत रश्मियाँ) : अन्तरिक्ष और मरुत विषय विज्ञान की पूर्णता हेतु आवश्यक होगा कि पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्थापित कास्मिकरेतज के सम्बन्ध में वैदिक विज्ञान का पक्ष उजागर हो। पाश्चात्य वैज्ञानिकों की प्रायोगिक संप्राप्त सूचनाओं का निष्कर्ष है कि 'कास्मिक प्रकाश विनिर्गमन का मूल सुपर नोवा और संभवतः नोवा के भी विस्तृत होते जाने वाले आवरणों में से निकल कर अन्तरिक्ष (Interstellar-medium) में आकर कास्मिक रेणु समस्त अर्धमण्डलाकार तारों के समूह के क्षेत्र को भर देते हैं। यहाँ आकर ये अपनी शक्ति को मुख्यतः कणों की टकराहट के कारण नष्ट कर लेते हैं।'^२ इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में एतद्विषयक जो विज्ञान है उसके अनुसार वायुपुराण (५२/८३-८६) जिन को वातरश्मि कहा गया है तथा मत्स्य पुराण जिन्हें अस्य मरीचयः कहता है वस्तुतः ये अन्तरिक्ष स्थित मरीचियाँ ही हैं। मरीचि मरुतों में से एक हैं। विज्ञानवेत्ता ऋषियों ने सूर्यरश्मियों से भेद करने के लिए वातरश्मि शब्द का प्रयोग किया है। आदित्य की रश्मियाँ मरीचि नहीं अपितु 'मरीचिपाः' हैं। आदित्य रश्मियाँ वातरश्मियों की रक्षक हैं। निघण्टु (१/५) में रश्मि नामों में मरीचिपाः ही पढ़ा गया है। सूर्य, चन्द्र की रश्मियों, मरुतों की मरीचियों अग्नि की किरणों अर्चियाँ कही जाती हैं।^३ वातरश्मियाँ सामान्यतः अदृश्य होती हैं— तथापि कृष्ण पक्ष की निविड अंधकार युक्त रात्रि में ऊपर आकाश में इनका प्रकाश देखा जा सकता है। इसीलिये जैमिनीय आदि ब्राह्मण^४ (१/२९२) में कहा गया है कि 'वायुः अन्तरिक्षे दीप्यते ।'

पाश्चात्य विद्वान् कास्मिक किरणों के विषय में निम्न तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि —रात्रि का आकाश मध्यमदीप्ति वाला होता है। चन्द्रविहीन रात्रि की पूर्व दीप्ति का ६० प्रतिशत सप्तर्षि विनिर्गत प्रकाश का होता है। कास्मिक रेज और प्रकाश का अन्तर अति—न्यून है। इनकी वेव लेंथ विभिन्न प्रकार की हैं। कास्मिक रेज के बेव एक सेंटीमीटर के कई लाखवें भाग के होते हैं॥ ये रेज एटमों की उत्पत्ति के कारण नहीं एटमों के विनाश के कारण होती हैं। यहाँ यह विनिश्चय करना होगा कि अन्तरिक्ष के प्रकाश या कास्मिक रेज का कारण क्या है?

वैदिक विज्ञान में यह स्पष्ट है कि अन्तरिक्ष में मरुतों की मरीचि रश्मि क्षुद्र छन्दों (Waves) में चलती है। 'कनीयांसि छन्दासि ज्यायस्तु छन्दस्सु—अध्यूहन्ति । जितदेवत्यानि.....।' (जै.ब्रा. १/१९८) कनीयान् छन्द ज्यायान् छन्दों के ऊपर स्तर बनाते हैं। ये ही कास्मिक रेज हैं।

^१ ताण्ड्य ब्रा., १३/४/६, ऋ., १/१८८/१,

^२ ताण्ड्य ब्रा. ६/६/२, कपि.सं. ३७/३,

^३ ऋ. १/६३/३, तथा १/४४/१२ प्रोग्रेस इन एलीमेंट्री पार्टिकल एण्ड कास्मिक फिजिक्स वॉ० ४ पृ० ३९०, जे.जी. विल्सन

^४ ताण्ड्य. १/७/३, ब्रह्माण्ड पु, २४/६२, यजुः १/२४

^५ लाइफ ऑन अदर बर्ल्ड, पृ. ५९, वायोग्राफी आफ अर्थ, पृ. १७, दी यूनीवर्स एण्ड डॉ. आइन्स्टीन, पृ. २२-२३, ११३-११४

आन्तरिक्ष में स्थित रजः : पार्थिव और अन्तरिक्षस्थ रजः भिन्न है। ये दोनों अपने कथित स्थानों पर ही रहते हैं।^१ हमारा विनम्र मत है कि पाश्चात्य विद्वान् जिसे कास्मिक डस्ट कहते हैं यह वही अन्तरिक्षस्थ रजः है। यह रजः कृष्ण, श्वेत, लोहित और नील वर्ण की कही गयी है।^२ निरुक्त ४/१९ में ज्योति और उदक को रजः कहा है। अतः रजः कण, अग्नि और उदक के परमाणु विशेष हैं। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता मानते हैं कि अन्तरिक्ष आपः (गैस) और रजः से भरा हुआ है।^३ कास्मिक रेज का २७ दिन का एक चन्द्र भी वे स्वीकार करते हैं। ये रेज २७ दिन वाद आती है। भारतीय काल गणना के चार प्रकार के मासों में एक नाक्षत्र मास भी है जो २७ दिन का होता है। संभवतः इन दोनों में कोई सम्बन्ध अवश्य है। वैदिक विज्ञान जो ऋषियों का प्रत्यक्ष ज्ञान है भविष्य में अनुसंधान से सिद्ध हो सकेगा, इसी आशा के साथ।

^१ ऋ. १/१५४/१ तथा १०/१२१/५

^२ ऋ. ८/१६/१४, पराशर ज्योतिष संहिता, अद्भुत सागर, उद्धृत, पृ. ३२०

^३ दी यूनीवर्स एण्ड आई. पृ. ११२

आशा—दिशा

अन्तरिक्ष के साथ दिशाओं का भी अस्तित्व स्थिर हुआ। तीनों लोकों के व्यवस्थापन में दिशाओं का महान योगदान है। इनके बिना लोक स्थिर नहीं हो सकते। यजुर्वेद आशा और दिशा में भेद मानता है तथापि आशा से सूर्योदय स्थान से नियत की जाती है और देवमाया में स्थिर है। दिशायेँ भू, भुवः, और स्व लोकों की परिधियाँ हैं। दिशः पश्चिमः।^१ (ऐत.ब्रा. ४/२८)आइन्स्टीन् शून्य में कोई दिशायेँ या परिधियाँ नहीं मानते। वेद शून्य को अस्वीकार करता है। उनके अनुसार आपः परमाणु जगत् को व्याप्त किये हुये हैं। यह तथ्य भिन्न है कि स्पेस एक Fixed System नहीं है। प्रसिद्ध उक्त तीन लोकों के अतिरिक्त जैमिनी दिशाओं का चतुर्थ लोक मानता है।^२ दिशाओं का भी एक रहस्यमय संसार है जिसको दिग्दाह के समय देखा जा सकता है। संस्कृत ग्रन्थों में दिग्—विज्ञान का विस्तृत वर्णन प्राप्त है जबकि योरोप आदि जगत में यह अध्ययन का विषय भी नहीं बन पाया है।

दिशाओं में चुम्बक प्रभाव पूर्ण रूप से स्थित रहता है। दिशायेँ लोहमयी सूचियाँ हैं।^३ जैमिनी नौ दिशायेँ बताता है। चार दिशायेँ चार आवान्तर दिशायेँ एक ऊर्व दिशा।^४ आवान्तर दिशायेँ रजतमयी सूचियाँ हैं। अन्तरिक्ष में दिशाओं की सूचियाँ मरुत् छन्दों पर आश्रित है। छन्दांसि वै दिशः। शत ८/३/१/१२ दिशायेँ आदित्य के अश्व हैं।^५ छन्दों के कारण ही दिशाओं के रक्षक (आशापाल) है। जो आप्य, साध्य, अन्वाध्य और मरुत है।^६ ऋग्वेद में आशा पर्वतों का भी उल्लेख है।^७ ये पूर्व (माहेन्द्री) वैश्वानरी (पूर्व—दक्षिण) (याम्या) नैऋति (दक्षिण—पश्चिम) वारुणी (पश्चिम) वायव्य (पश्चिमोत्तर) कौबेरी (दक्षिण—उत्तरपूर्व) आठ दिशायेँ विभु द्रव्यों और आदित्य रश्मियों के संयोग से पैदा होती है। संस्कृत की संज्ञाएँ अपना कारण अपने अन्दर रखती हैं, यह वैज्ञानिक सत्य है। नाकसद ३ दिशायेँ सूर्य से भूमि की ओर तथा शेष पंचचूडा दूसरी ओर होती है।^८ दिशायेँ अपरिमित है। दिशाओं के कारण से पृथ्वी को धारण करने वाले चार नाग हैं, जिन्हें दिग्गज भी कहा जाता है। दिग्गज अम्ब में ठहरे भौतिक पदार्थ है। जिनका रहस्य स्पष्ट नहीं है। दो तथ्य भी अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं— (१) दिशाओं में क्षय क्यों और कैसे हुआ। (२) दिशाओं के साथ श्रावण (सुनाना और बात) आदि का क्या सम्बन्ध है?

इस अन्तरिक्ष के अतिरिक्त दूसरे अन्तरिक्ष सुदूरस्थ लोकों में है। जिस पर वैज्ञानिक शोधरत है।

^१ जै.ब्रा. २/१७९.....चतुर्थो,लोको यद् दिशः।

^२ शत. १३/२/१०/३, तैत्ति. ३/९/६/५

^३ जैमि.ब्रा. २/१३१

^४ निघण्टु : यास्क— १/ ५ जैमि. ब्रा. २/२२९, शत. २/५/१५

^५ शतपथ. १३/४/२/१६

^६ ऋ. १/३९/३

^७ शतपथ. ८/६/१/१४

लोकों का अपसरण

आज सूर्य भूमि से बहुत दूर स्थित है। कभी वह पृथ्वी के इतने समीप था कि स्पर्श किये जा सकते थे। वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने माध्यन्दिन शतपथ में स्पष्ट कहा है कि 'अग्न आयाहि वीतये इति'। तद्वेति भवति वीतये इति। समन्तिकमिव ह वा इमे ऽग्रे लोकाः आसुः इति। उन्मृश्या हवैव द्यौरास।^१ अन्तरिक्ष जब विस्तृत नहीं हुआ था। पृथ्वी की उत्पत्ति हो चुकी थी। तदनु आदित्य बना जो भूमि पर से स्पर्श किया जा सकता था। 'अग्न आयाहि वीतये'।^२ अन्तरिक्षस्थ वायु अग्नि के योग से वायु पूर्ण बल से फैला। उसी के कारण द्युलोक आदि अलग अलग हुये। उपर्युक्त शतपथ ब्राह्मण के प्रवचन के समान ही तैत्तिरीय संहिता में 'इमे वै सहास्तां ते वायुर्व्यवात्'। तथा आस्तवादित्योऽस्मिन्' लोक आसीत्। तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन्। (तै.सं. ३/४/३, ७/३/१०) आदि वचन संपुष्ट करते हैं। मैत्रायणी संहिता भी ऐसा ही वचन कहती है।^३

यह तो वैदिक वांगमय में स्वीकार किया गया है कि सूर्य—पृथ्वी कभी अति निकट थे। उस समय पृथ्वी अग्निगर्भा नहीं थी। तब देवताओं ने कामना कि ये लोक अधिक दूर कैसे हों। कैसे ये हमारे लिये अधिक वरीय हों। स्पष्ट है इस स्थिति से पूर्वदेवों का प्रादुर्भाव भी हो चुका होगा। 'ते देवा अकामयन्त। कथं नु इमे लोका नितरा स्युः। कथं न इदं वरीय इव स्यादिति। तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन् वीतये—इति। त इमे विदूरं लोकाः। ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवत्.....।'।^४

सूर्य तब पृथ्वी को बहुत तपाता था। उसके देव प्रदाह से डटे। वे बोले कि यह पृथ्वी को जलायेगा। इन दोनों का स्थान बदल दें। तदनु तीन द्वारा अन्तरिक्ष में द्यु को पहुँचाया गया। वह (सूर्य) वहां से परे ही तपता था। जैमिनीय ब्राह्मण के वचन से यह तथ्य उजागर हुआ।^५

तदनु तैत्तिरीय संहिता के वचनानुसार सत्ताईस के साथ स्तुति की गई है और द्यु और पृथ्वी अलग हुये। वसु, रुद्र और आदित्य तदनु उनके समान पृथक हुये। 'सप्तविंशत्या ऽस्तुवत् द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्याययन्।'।^६ शतपथ ब्राह्मण पूर्व में केवल दो लोक ही मानता है। उन दोनों के दूर होते समय मध्य में आकाश था वह अन्तरिक्ष हुआ।^७ तयोनियतोर्यो अन्तरेताकाश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत्। ईक्षं हैतन्नाम।

^१ शतपथ ब्रा. १/४/१/२२

^२ ऋग्वेद : ६/१६/१०

^३ मैत्रायणी सं. १/११/७; २/२/२; ३/९/३

^४ शतपथ ब्रा. १/४/१/२३.

^५ जैमिनीय ब्राह्मण १/८७ —स इदं सर्वं प्रातपत्। तस्य देवाः प्रदाहाद् अविमयुः।

^६ तैत्तिरीय सं. ४/३/१० तथा शतपथ ब्रा. २/४/३/१६

^७ शतपथ ब्रा. ७/१/२/३

उपर्युक्त वैदिक प्रमाणों के आधार पर निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं। लोकों के दूर जाने से पूर्व देवताओं का जन्म हो चुका था। पूर्व में देव साथ-साथ थे उनका व्यापार क्षेत्र अति सीमित था। लोकों में परस्पर सहाय्य उत्पन्न हुआ। अलग हाते हुये लोकों से कुछ भी उनका क्षीण नहीं हुआ। देव और अन्तरिक्षस्थ नर कष्ट में हुये। तदनु अनन्त देवचक्र स्थिर हुआ और वर्षा आदि का आरम्भ हुआ। जिसे अग्नि ग्रस गया। जब लोक साथ-साथ थे तो वे ऐसे एक हो जाते थे। जैसे साथ उगे दो बांस परस्पर टकराते हैं। लोकों के दूर जाने में अग्नि और वायु सहायक बने। तब 'वीतये' ध्वनि उठी। यह दैव वाक् थी। इस ध्वनि से जो छन्द बने उससे लोक दूर-दूर अवस्थापित हुये। उस समय सूर्य की ताप में कुछ परिवर्तन हुआ। वसु, रुद्र और आदित्य का विभाग स्थिर हो गया और अन्तरिक्ष पूर्ण रूप से विस्तृत हुआ।

समीप स्थित लोक दूर हुये। निराधार आकाश विस्तृत हुआ और देवों से आधारवान् होता गया। अग्नियुक्त वायु ने अन्तरिक्ष को विस्तृत किया। इस सब का वर्णन ऋग्वेद^१ में भी मिलता है। इस सम्बन्ध में कुछ योरोपीय विद्वानों का कहना है कि, "IN fact, it is obvious that moon must have been revolving almost with in touch of the earth's surface immediately after the separation."^२ तथा— Various universes were much closer together when the solar system was formed than they are now. और — "The various universes Congregated close together in a volum of space much smaller than they now occupy."^३

शतपथ ब्राह्मण^४ स्वीकार करता है कि सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी आदि लोक पूर्व में सुस्थिर नहीं थे और वे कांपते रहते थे। पर्याप्त काल के बाद वे नियमित गतियों में स्थापित हुये। कुम्भकार के चक्रवत् अस्थिर क्रन्दन करने वाले ये लोक अस्थिर थे। वयों और मरीचियों से अन्तरिक्ष और जीभूत और नक्षत्रों से दिव लोक को दृढ़ किया। वय पद का अर्थ शतपथ^५ में कहा गया है कि ये मूर्धा, क्षत्र, विष्टम्भ और विश्वकर्मा नाम के चार वय थे।

आइनस्टाइन शून्य में कोई दिशा या परिधि नहीं मानता। परन्तु वेदिक मनीषा दिशाओं और परिधियों को वैसे ही भौतिक मानती है जैसे कि सूर्य आदि भौतिक पदार्थ है। इन्हीं परिधियों के कारण लोक स्थिर हैं। असत् भी परिधियों

^१ ऋग्वेद १०/८८/३, ३/२२/२, शतपथ. ७/१/१/२३

^२ Biography of the Earth. P. 48

^३ Life on the other worlds. P. 150

^४ शतपथ ब्रा. ११/८/१/२, ताण्ड्य ब्राह्मण २४/१/२, यजुर्वेद ३९/४, तथा काठक सं. २५/६

^५ शतपथ ८/२/३/१०-१३, छान्दोग्योपनिषद्, २/२१/१

के मध्य ही चक्र काटते हैं। वायु भी लोकों को स्थिर रखता है—वायुना हींयं यतमन्तरिक्षं न समुच्छति ।^१ पाश्चात्य विज्ञान अब शून्य का उपर्युक्त भाव त्यागते जा रहे हैं। ऋग्वेद के दो मंत्रों में कहा गया है कि वरुण असुर ने द्यु लोक को स्तम्भित किया है।^२

वैदिक वांगमय की प्रतिपत्ति है कि पूर्व में चन्द्र का स्थान सूर्य से ऊपर था। वह धीरे-धीरे नीचे आया और पृथ्वी के चारों ओर घूमने लगा। सहस्रों ग्रह और नक्षत्र परस्पर टकराकर नष्ट हुये। चन्द्र, ग्रह और नक्षत्र आदि एक दूसरे की परिधि में प्रवेश करके स्थिर गतिवान् हो रहे हैं।^३ क्योंकि आरम्भ में पृथ्वी व्यथा से कांपती थी और द्यौ अस्तम्भित था।

‘यः पृथिवीं व्यथमानामदंहद्, यः पर्वतान् प्रकुषितां अरम्णात्।
(ऋ. २/१२/२ तथा २/१७/५)।

इन्द्र ने पर्वतों को दृढ़ किया, आपः कर्म नीचे वाले किये। द्यु को पतन से स्तम्भित किया। इस स्तम्भन क्रिया में मध्यमस्थानी सविता मध्यम स्थानी इन्द्र का सहायक बना।^४ विष्णु ने द्यावा पृथ्वीको पूर्णतः स्तम्भित किया।^५ जिसने बल से पृथ्वी के छोरों को सम्भाला वह बृहस्पति शोर से तीन स्थानों में ठहरा।^६ ‘यस्त स्तम्भ सहसा विज्यो अन्ता न, बृहस्पति स त्रिषधस्थो रवेण। पृथ्वी और द्यु लोक को समस्त दिशाओं में फैलाने का कार्य सूर्य ने किया और स्थिर किया।

‘महीं चिद् द्यामातनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भेन स्क्भीयान् ।

(ऋ. १०/१११/५)

पूर्व उदहाहरणों से ज्ञात होता है कि वरुण, अन्तरिक्ष, दिशाओं, इन्द्र, सविता और विष्णु आदि ने लोकों को दृढ़ किया। ये देवता और अन्तरिक्ष तथा दिशाएँ स्वयं ही पहले अस्थिर थीं। स्वयं दृढ़, होकर उन्होंने लोकों को दृढ़ किया।

पृथ्वी, सूर्य एवं चन्द्र आदि जब अपने अपने ग्रह में भ्रमण करते थे परन्तु कालान्तर में स्थिर गति होकर इन्होंने अपने गृह परिवर्ति आरम्भ किये। ‘ततो हवा इदम् आवाचीनम् अन्योऽन्यस्य गृहे वसन्ति । यथा गृहं ह वाव ततः पुरेषु यथाज्ञाति । (जैमि. ब्रा. १/१४६) पाश्चात्य खगोल विदों की मान्यता है कि जो ग्रह जिससे उत्पन्न हुआ है वह उसी के चारों ओर घूमता है। अतः चन्द्र पृथ्वी से अलग हुआ है। पर जैमिनी ब्राह्मण इस तथ्य को नकारता है।

इस प्रकार वैदिक मनीषा लोकों का परिभ्रमण सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करती है। आज का विज्ञान उससे चाहे सहमत न हो परन्तु वैदिक विज्ञान प्राचीन है

^१ ऐतयेय ब्रा. अध्याय-१०

^२ ऋग्वेद : १०/१४९/१, ५/८५/२

^३ शतपथ ब्रा. १/२१९/१६, नेदयोऽन्यं हिसाव अति.....अन्तरिक्षमेव रूपेण । अन्तरिक्षेण हीमे द्यावा पृथिवी विष्टब्धे ।

^४ ऋग्वेद : १०/१४९/१ : सविता यत्रैः पृथिवीमरम्णाद्, असकम्भेन सविता द्यामदंहद्।

^५ ऋग्वेद : ७/९९/३

^६ ऋग्वेद : ४/५०/१

यह कहकर उसको त्यागना भी गलत होगा । निःसन्देह यह गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

विभिन्न लोकों का अवस्थापन :

पूर्व में कहा जा चुका है कि कभी सूर्य और पृथ्वी अति निकट थे। आज सूर्य पृथ्वी से कितनी ही दूर है । महान् वैज्ञानिक वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने माध्यदिन शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि 'अग्न आयाहि वीतये—इति ।..... समन्तिकमिव हवा इमेऽग्रे लोकाः—आसु इति । उन्मृशश हैव द्यौरस । १/४/१/२२ ॥ अन्तरिक्ष विस्तृत नहीं हुआ था। पृथ्वी का निर्माण हो चुका था। द्यौ ऊपर हाथ उठाकर स्पर्श किया जा सकता था। तभी सूर्य बनाजो भूमि से हाथ द्वारा छुआ जा सकता था। :अग्न आयाहि वीतये । ऋग्वेद ६/१६/१०॥ अन्तरिक्ष में स्थित वायु अग्नि के सहयोग से पूर्णवस से फैला । वाहु के ही फलस्वरूप द्युः आदि लोक अलग—अलग हुये। तैत्तिरीय संहिता ३/४/३ के अनुसार वायु ने लोगों को अलग लिया । सूर्य कभी पृथ्वी लोक में ही था। जिसे प्राण आदि देवों ने पकड़कर द्युलोक में पहुँचा दिया। 'असावादित्योऽस्मिन् लोक आसीत्। तं देवाः पृष्ठैः परिगृह्य सुवर्गं लोकम् अगमयन् । तैत्तिरीय संहिता ७/३/१०॥ तथा जैमिनीय ब्राह्मण १/८७ स्पष्ट है कि वैदिक मनीषा का मानना है कि सूर्य धरती पर पूर्व से ही था। स्पष्ट है कि वैदिक मनीषा का मानना है कि सूर्य धरती पर पूर्व से ही था। जो सबको तपाता था। प्रदाह से डरकर देवों ने उसका स्थान बदलने का निर्णय लिया। प्रदाह का कारण अग्नि तो पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ । उससे पूर्व पृथ्वी में अग्नि नहीं थी। वह आदित्य से तपती थी। मैत्रायणी संहिता ३/९/३ तथा २/२/२ के अनुसार सूर्य को यहाँ से ऊपर ले जाया गया। इह का असा आदित्य आसीत् । तमितोऽध्यमुं लोकमहरम्॥ इस दूर अवस्थापना के कारण ही अन्तरिक्ष का विस्तार हुआ। दिशाये स्थिर हुयीं। लोकों का स्तम्भन भी हुआ।

सृष्टि निर्माण के आदि में हिरण्याण्य और तदनु प्रजापति या सविता फट कर लोकों को अपने अनंदर से बाहर निकाल रहे थे। तब सूर्य चन्द्र, वृहस्पति एवं शनि आदि इतने दूर नहीं थे जितने कि वे आज हैं। ये लोक तीन स्थानों पर पृथक् हुये। ताण्डय ब्राह्मण ७/१०/१, ८/१/९ तथा जैमिनीय ब्राह्मण ३/७२, १/११६, तथा १/१४५ । इन जैमिनीय ब्राह्मण बचनों का कालेण्ड के द्वारा किया गया अनुवाद सम्यक् नहीं है। हमारा निवेदन है कि लोकों से दूर दूर स्थापित होने के समय उनका कोई अंश नहीं गिरा । काठक संहिता और की स्वीकृति है कि लोकों को वायु ने अलग—अलग किया । तेवायुर्व्यवात् । इमे वै सहास्ताम् । तैत्तिरीय संहिता ४/३/१० तथा शतपथ ब्राह्मण ८/४/३/१६ का वचन है कि सत्ताईस की स्तुति के कारण दोनों लोक अलग हुये। लोकों के बीच का आकाश अन्तरिक्ष हुआ । 'तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत् तदन्तरिक्षमभवत् । शत० १०/१/२/२३।

इस सम्पूर्ण विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

१. लोक दूर होने से पहले देव जन्म हो चुका था। वे देव भी साथ—साथ थे। उनका व्यापार क्षेत्र नगण्य था।

२. लोकों का आपस में साहाय्य पैदा हुआ ।
३. अलग होते हुये लोकों से कुछ गिरा नहीं।
४. देव और अन्तरिक्ष में स्थिर नर कष्ट में हुये।
५. तदनु देव चक्र स्थिर हुआ । वृष्टि का आरंभ हुआ।
६. अजान्वशा जिसे अग्नि नेग्रसा का जन्म लोकापसरण के बाद हुआ।
७. लोकों के अपसरण में अग्नि और वायु सहायक हुये।
८. अन्तरिक्ष अन्ततः विस्तृत हुआ । वसु, रुद्र और सूर्य का विभाग स्थिर हुआ। सूर्य का तपन क्रम भी बदला । ऋग्वेद १०/८८/३, ३/२२/२ ।

पाश्चात्य विद्वानों का भी मत है कि कभी चन्द्रमा, पृथ्वी से हुई जाने वाली दूरी पर चक्र करता था । सौर जगत् के निर्माण के समय विभिन्न जगत् बहुत पास पास थे। Biography of JEarth pg. 48 तथा life on other world pg. 150

वैदिक सांख्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि चन्द्रमा का स्थान पले सूर्य से ऊपर था। चन्द्र धीरे-धीरे नीचे आया। और पृथ्वी चारों ओर घूमता हुआ स्थिर हुआ। सहस्रों ग्रह और नक्षत्र आपस में टकराकर नष्ट हुये। चन्द्रादि ग्रह और नक्षत्र एक दूसरे की परिधि में घुसकर स्थिर जातियों के कारण कर रहे थे। एतदर्थ शतपथ ब्राह्मण १/२/१/१६ प्रमाण है। 'अन्तरिक्ष ही में द्यावापृथिवी विष्टब्धे। पृथ्वी आरम्भ में व्यथा से कांपती थी और द्यौ अस्तम्भित था। ऋग्वेद २/१२/२ के तीसरे पाद 'यो अन्तरिक्षं विमयेवरीयो' का मैक्डोनल Who measures out the air more widely."

इन्द्र ने प्राचीन पर्वतों को ओज से दृढ़ किया तथा आपका कर्म निम्नगामी किया गया, सर्वभूत धात्री और पृथ्वी को धारण किया। माया से 'द्यु' को पतन से स्तम्भित किया। इस स्तम्भन की क्रिया में माध्यम स्थानी सविता मध्यम स्थानी इन्द्र का सहायक था। ऋग्वेद २/१७/५, १०/१४९/१॥ मध्यमस्थानी सविता के यंत्रोंका ज्ञान अन्वेषण का विषय है। लोकों के दृढ़ होने के सम्बन्ध में ऋग्वेद ७/९९/३ मंत्र प्रमाण है कि विष्णु ने द्यावा पृथ्वी को दृढ़ किया । पृथ्वी को वृहस्पति ने जो शब्द (शोर) से ठहरा हुआ था, अपने बल से पृथ्वी के छोरों को थामा । यही नहीं सूर्य ने धरती और द्यु को विस्तृत किया और स्थिर भी किया। ऋग्वेद ४/५०/१, १०/१११/५। इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वरुण, अन्तरिक्ष, दिशाओं, इन्द्र, सविता, और विष्णु ने लोकों को दृढ़ किया । पूर्व में शिथिल, देव, अन्तरिक्ष और दिशाओं ने स्वयं दृढ़ होकर लोकों को भी दृढ़ किया ।

आरम्भ में सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र आदि अपने अपने गृह में भ्रमण करते थे। पर्याप्त समय बीतने के बाद जब उनकी गतियाँ स्थिर होने लगीं तो उन्होंने गृह परिवर्तन आरम्भ किया । जैमिनी ब्राह्मण १/१४६ पाश्चात्य ज्योतिषज्ञ समझते हैं कि जो ग्रह जिससे उत्पन्न हुआ, वह उसके ही चारों ओर घूमता है । जैसे चन्द्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है । परन्तु ऐसा नहीं है । जैमिनीय ब्राह्मण तथा ऋग्वेद ३/५४/६ एक ताण्ड्य ७/१०/५ के अनुसार ऐसा स्वीकार नहीं किया गया है।

पृथ्वी, जल, वायु और आकाश भूत अस्तित्वों को बिना जाने सृष्टि विज्ञान नहीं समझा जा सकता। पांच भौतिक अस्तित्व को मिश्र, यूनान, भारत आदि देशों में विद्वान् स्वीकार करते हैं। जब योरोप में रसायन शास्त्रीय विद्या विकसित होने लगी तो भूत शब्द का अर्थ 'एलीमेंट' कर दिया गया और पुरातत्ववादियों के द्वारा स्वीकृत भूतों का अस्तित्व को उपहास का विषय मान लिया। रसायन शास्त्रियों ने लोहा, सोना पारद, हाइड्रोजन आदि को भी एलीमेंट बताया। ये वैज्ञानिक पांच महाभूतों को इन एलीमेंट्स का विकार मानते हैं। ये उनकी दृष्टि में मूलतत्त्व नहीं हैं।

वर्तमान भौतिक विज्ञान विदों ने लोहा एवं सोना आदि को भी तत्त्व नहीं माना। उनके अनुसार इसमें एटम (Atom) तथा एटमों में इलैक्ट्रान (Electrons) ही मूल माने गये हैं। सोना, लोहा, हाइड्रोजन आदि के एक एक एटम में इलैक्ट्रानों की संख्या भी भिन्न भिन्न कही गयी है। इससे स्पष्ट होता है कि सोना, पारद आदि का कोई स्वतंत्र रूप नहीं है। स्वतंत्र रूप तो इलैक्ट्रानों का ही है।

प्राचीन भारतीय मनीषा के अनुसार महर्षि चरक ने अपने ग्रन्थ चरक संहिता में प्रकृति भूत वायु के कर्मों का वर्णन करते हुये लिखा है कि विभागों धातूनाम्।^१ उनके अनुसार लोहा सोना आदि धातुओं की भिन्नता का कारण प्रकृतिभूत वायु है। ये सभी धातुयें पार्थिक विकार हैं। जिस प्रकार पार्थिव अंश गंध के अनेक भेद हैं वैसे ही धातुओं के भी विभाग (Classes) हैं। ये विभाग वायु के कारण हुये। ये लोहा आदि तत्त्व (Elements) नहीं हैं। जबकि वर्तमान विज्ञान तत्त्व के रूप में एटम एवं इलैक्ट्रानों को ही मानता है। हमारा विनम्र निवेदन है कि वस्तुतः एटम आदिम आपः, वायु और तेज का मूल रूप है। रूप की इयत्ता तो नहीं बताई जा सकती। तथापि प्रशस्तपाद के पदार्थ कर्म संग्रह ग्रन्थ के गुण ग्रन्थ प्रकरण में अणु-परमाणु विषयक किंचित विवेचन प्राप्त होता है। यथा उसके अनुसार अग्नि और आपः के योग से हिरण्य और रजत की उत्पत्ति बताई गयी है। वस्तुतः वे वायु अग्नि और आपः के परमाणुओं के मेल से सभी धातुओं की पृथक्ता मानते हैं। काठक संहिता का कथन दृष्टव्य है—'अग्निं वै वरुणानीम्यकामयन्त। तास्समभवत्। आपो वरुणानीयदग्ने रेतोऽसिच्यत् तद् हरितमभवत्। यदपां तद् रजतम्। (८/५) तथा अग्निर्वै वरुणानीम्य कामयत्। तस्य तेजः परपतत्। तद् हिरण्यमभवत्। (काण्टक सं. ८/५) ॥

शतपथ ब्राह्मण अन्तरिक्षस्थ लोह, रजत और स्वर्ण का भेद बताते हुये कहता है कि तीन सूचियाँ हैं लोहमयी, रजतमयी और हिरण्यमयी। दिशाये लोह मय्य, आवान्तर दिशाये रजत और ऊर्ध्व दिशा हिरण्यमय्य। संभवतः आपः आदि परमाणुओं के वर्ण लोह, रजत या हिरण्यवत् हैं।

अरस्तु ने वायु में गुरुत्व नहीं माना। भौतिक शास्त्रियों ने यांत्रिक उपाय से वायु आदि का निष्कासन कर के अवकाश (Vaccum) उत्पन्न कर यंत्र का चार

^१ तुलना करें शान्तिपर्व २१४/१६

शून्य सिद्ध किया। उन्होंने सिद्ध किया कि वायुमें भार है। हमारी भारतीय मनीषा कहीं भी पूर्ण अवकाश असंभव मानती रही है। पूर्व वैज्ञानिकों ने वायु निकालते समय वायु के साथ जो रजः आदि रेणु बाहर निकाले उन्हें अनदेखा कर दिया। भार तो उन्हीं पंचीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का परिणाम था। मूल वायु में भार होता ही नहीं है। पांचभौतिक ज्ञान जाने बिना सृष्टि ज्ञान का कार्य गति प्राप्त ही नहीं कर सकेगा। इसीलिये ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि तंतुओं में जैसे संतार (ताना-बाना) होता है। वैसे ही पंच महाभूतों से भी कार्य उत्पन्न होते हैं। पंचभूतों की पंचीकरण प्रक्रिया माने बिना सृष्टि विद्या का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

प्रत्याख्याय तु भूतानि कार्योत्पत्तिर्न विद्यते ।

तन्तूनामिव संतारो भूतेष्वन्तर्गतो मतः॥ (पूर्वभाग १९/१८९)

यहा उल्लेखनीय होगा कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि जो तत्व हैं वे दृश्यमान पृथ्वी, जल, अग्नि आदि नहीं हैं। इन तत्वों के ज्ञाता वेदों में तत्त्ववेत्ता, तत्त्वचिन्तक या भूतचिन्तक कहे जाते थे। सुविधा की दृष्टि से 'अग्नि' भूत को व्याख्यायित किया जा रहा है।

आपः

शतपथ ब्राह्मण^१ के छठे काण्ड में उल्लेख है कि प्रजापति ने आपः को उत्पन्न किया। वर्तमान विज्ञान आपः से जगत की उत्पत्ति प्रक्रिया स्वीकार करता है। इन्हें नैबूला या गैस का रूप माना जाता है। इस गैस में ही इलैक्ट्रॉन आदि बनते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण २/९/१, में धूम के उपरान्त अग्नि तदनु ज्योति, अर्धि मरीचि तथा उदारः की उत्पत्ति मानी है। यह भी लिखा है कि ये उदारः अब्ध्र के समान संहत हुये तब वस्ति के अधोभाग को तोड़ने पर समुद्र बना। तो निःसन्देह ये आपः सलिल थे। सलिल बनने पर आपः प्रधान और व्यापक हो गये। यहां वस्ति मंत्र प्रक्रिया इस प्रकार हुई कि संघात अवस्था में अग्नि के घेरे के निम्न भाग को तोड़ा। संहत होने पर प्रसारण फैलाव के कारण हुआ। यह संघात गैस रूप में था। गैस करक होकर व्यापक हुई मनुस्मृति १/८ भी यही उत्पत्ति क्रम प्राप्त है। अनेक शास्त्र आपों को नारादि कहते हैं। उसका कारण वायु पुराण बताते हुये कहता है कि 'अर' धातु नानात्व और शीघ्र अर्थ में प्रयुक्त होती है।^२ आप एकार्णव अवस्था में होने से उनमें शीघ्रता भी स्पन्दन नहीं था अतः नरा कहे गये। अतः संस्कृत शास्त्रों के अनुसार आपों की उत्पत्ति का क्रम यह होता है— उदारः (अग्नि की अन्तिम अवस्था—► नरा—► नारा (आपः) सलिलावस्था शतपथ का उल्लेख है कि यज्ञ प्रजापति का शिरछिन्न होने पर उसका रस आपों में प्रविष्ट हुआ। आपः विकार धूप (भाप) का गमन ऊपर की ओर होने का कारण आन्तर्य सिद्धान्त है। जो चेतन ही नहीं अचेतनों में काम करता है। इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि ने पर्याप्त स्पष्ट लिखा है^३ काणाद ने सूत्र में पतंजलि के बाहुवेग को आत्म संयोग तथा कर्मजनक संस्कार कहा है^४ संस्कारभावे गुरुत्वात् पतनम् तथा संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् (५/१/७, ५/१/१८), पतंजलि का मत अरस्तु के मत से किंचित् साम्य रखता है। वायु पुराण उसका समर्थन करता है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ अपने कारण की ओर ही जाती हैं।^५ न्यूटन ने जो पार्थिव आकर्षण का मत स्थापित किया उसकी अपेक्षा आन्तर्य सिद्धान्त अधिक युक्ति संगत है। गुरुत्व और भार में भेद है यह तथ्य शान्ति पर्व में कहा गया है।^६

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः आपः स्त्री स्थानी है। 'योषा वा आपः॥ (शत. १/१/१/१८) आपः शब्द का अनुवाद वैज्ञानिक दृष्टि से अपूर्व ही होगा। इस संपूर्ण अहंकार के अन्दर परिधि आकाश में आपः व्यापक कहे गये हैं।^७ पृथ्वी और ग्रहों के बीच अवकाश नहीं है यह अब पाश्चात्य विचारक भी मानने

^१ शतपथ ६/९.....सोऽपोऽसृजत्.....

^२ वायु पु. ७/५९—५९ तथा १००/१८३, एकार्णवे तदाऽऽपो वै न शीघ्रास्तेन त नराः। तथा शतपथ ३/९/२/१

^३ महाभाष्य १/१/५०

^४ यूनीवर्स रण्ड डॉ. आइन्स्टीन पृ. १७ तथा वायु पु. ७/२६/२७, अथर्व. १०/५/२२

^५ शान्तिपर्व २६१/३

^६ काठक सं. पृ. ४९ शतपथ ब्रा. ६/१/१/९

लगे हैं। वस्तुतः अवकाश (आन्तरिक्ष) भूतों से भरा पड़ा है। आपः का अर्थ ही है सबको व्याप लेने वाला । आपों ने कोई अवकाश छोड़ा ही नहीं।

आपः के विविध रूप हैं।^१ आप के गुणों में शीतलता, रस, गीलापन, द्रव्यत्व, स्नेह, सौम्यता, जिह्वा, विस्यन्दन, तथा उबलना आदि शान्ति पर्व (२६१/४) में कहे गये हैं। हिम सर्जना ३०० प्रकार की आदित्य रश्मियाँ आपके योग का ही परिणाम है। पृथ्वी पर शैत्य का कारण ही आपः ही है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में आपःचतुष्टयः कहे गये हैं। तो शतपथ उन्हें 'त्रय्यः' कहता है।^२ अपां नपात आपों का पुत्र है। जो अग्नि तो है परन्तु भूताग्नि नहीं । आपों के पुत्र ने असूर्य की महत्ता से प्रजा रूपी भुवनों को पैदा किया । अपां नपात विना ज्वलन सामग्री के था।^३ अपां नपात से अन्तरिक्ष में व्याप्त आपःअणु वैद्यतु अणु हो जाते हैं। ऋग्वेद में आपः को 'याः शुचयः पावकाः' कहा गया है। (ऋ. ७/४९/४) मैकडोनल का शुचयः पावकाः का अर्थ Clear तथा Purifying युक्त नहीं है। अतः आपो वा अग्निः पावकाः ।

^१ यजुः १४/७, शतपथ ८/२/२/८, जैमि. १/४५,

^२ तैत्ति.ब्रा. ३/८/२, शतपथ. ९/१/२/२२

^३ ऋ. २/३५/३, २/३५/२, २/३५/४, निरुक्त ३/१६,

अग्नि

वेद मंत्रों में अग्नि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। अग्नि की सर्व-पूर्व-अवस्था या भूतावस्था के लिये प्राचीन वांगमय में तेजः और ज्योतिः शब्द का अधिक व्यवहार हुआ है। शान्तिपर्व^१ में अग्नि के लिये तेजः शब्द प्रयोग में किया गया है। प्रलयकाल में अग्नि का ज्योतिमय रूप हो रहा था, यह कहा गया है।

ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले । शान्ति. ३५७/१४ प्रलय अवस्था में जल का प्रत्येक कण ज्योति रूप हो गया । तब ये ज्योतिर्भूत (विद्युतयुक्त) आपः वायु में विलीन हो गये ।

अग्नि का जन्म त्रेधा बताया गया है। वह तीन बार जन्मी इसे जाने बिना वैदिक विज्ञान तिरस्कृत ही हो जायेगा । ऋग्वेद में वत्सप्रि ऋषि का कथन है कि—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।

तृतीयप्सु नृमणा अजस्रमिन्वान एनं जाते स्वाधी ॥

(ऋ. १०/४५/१)

वैदिक माइक्रोलोजी में मैकडोनेल ने इसका अर्थ करते हुये लिखा है कि 'From heaven first Agni was born; the second time from us (men), Third in the waters.'^२

इस मंत्र में दिवः एक विशेष संज्ञा है। यही मंत्र यजुर्वेद एवं तैत्तिरीय संहिता में भी पठित है।^३ इस संज्ञा का वैज्ञानिक व्याख्यान माध्यन्दिन ने शतपथ ब्राह्मण में किया है—

‘दिवस्परि प्रथमं जरोऽग्निः इति । प्राणो वै दिवः । प्राणायु वा एष प्रथममजायत । अस्मद् द्वितीयं परि जातवेदसा इति । यदेन मदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत् । तृतीयम् अप्सविति । येदेनमदस् तृतीयम् अद्भ्योऽजनयत् ।

स्पष्ट है कि प्रथमतः अग्नि का जन्म प्राण अथवा वायु से हुआ । यह अग्निभूतों में तीसरा भूता है। दूसरी बार अग्नि का जन्म तब हुआ जब हिरण्यगर्भ बना। यह हिरण्यगर्भ पुरुष या पुरुषविध था। जातवेद मध्यमस्थानी अग्नि है। अग्नि का तीसरा जन्म अपों में हुआ । मैत्रायणी संहिता^४ भी अग्नि का कारण आपः को ही मानती है।

अग्नि त्रिवृद् है। शतपथ ब्राह्मण^५ का कथन देखें— ‘ए एता तिस्र तनुरेषु लोकेषु विन्यधत् । यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथव्यां न्यधत् । अथ यत् पावकं तदन्तरिक्षे । अथ यत् शुचि—तद् दिवि । तद्वा ऋषयः प्रतिबुत्सुधिरे ।

^१ शान्तिपर्व ३०७/२०

^२ Vedic Mythology, Pg. 93

^३ यजुर्वेद : १२/१८ तैत्ति. सं. १/३/१४

^४ मैत्रायणी संहिता ३/२/३

^५ शतपथ ब्रा. २/२/१/१४

अग्नि के ये तीन नाम पवमान, पावक और शुचि सार्थक होते हुये भी संज्ञा वाची है। यं संज्ञायें ही वैदिक विज्ञान को अनावृत करती है।^१ मैत्रायणी संहिता में कहे गये अग्नि के तीन विभाग; ऋग्वेद मंत्र में भी देखे जा सकते हैं—अग्निः ऋषिः पवमानः पांचजन्यः । ऋ. १/१६/२० अग्ने पावक रोचिषा । ५/२६/१, अग्निः शुचिन्नततमः । ऋ. ८/४४/२ । शुचि स्वरूप के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का निम्नवचन उल्लेख्य है।

यत् (अग्नेः) शचि (रूपम्) तद्वि । (शत. २/२/१/१४) वीर्यं वै शचि । यद्वा अस्य (अग्नेः) एतदुज्ज्वलति एतदस्य वीर्यं शचि । (शत. २/२/१/८) असौ वा आदित्यो अग्निः शुचिः । (तैत्तिरीय ब्राह्मण १/१/६/२) । ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत त्रिवृदग्नि विषयक पाठ की व्याख्या वायुपुराण (५३/५) से प्रारम्भ होती है। यह वर्णन भी विज्ञान सम्मत है। ब्राह्मण्डपुराण (पूर्व भाग २४/६) से यही वर्णन प्राप्त होता है। तथा मत्स्यपुराण में भी (१२८/५-९) में किंचित् ऐसा पाठ प्राप्त होता है। यद्यपि पुराणों में प्राप्त पाठ बहुत विकृत एवं त्रुटिपूर्ण हो गया है। क्योंकि पुराण प्रायः जनता का वेदसम्मत संस्कृत साहित्य है। अतः यदि पाठ विकृत होता है तो आश्चर्य की बात नहीं है। पौराणिक वर्णन के अनुसार अग्नि त्रिविध है। पवमान इस पृथ्वी लोक में, पावक अधव वैद्युत, (वाय्वी) जो अन्तरिक्ष एवं जठर में है और तृतीय सौर अग्नि या शुचि है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि वैद्युत्, जाठर और सौर अग्नियाँ अपांगर्भा हैं। ये अदिव्य अग्नि ही भूताग्नि है। विष्णुपुराण^२ में इन तीनों अग्नियों में प्रत्येक के १५ भेद कहे गये हैं। विष्णु पुराण^३ की श्रीधर टीका में लिखा है कि;

‘निर्मथ्यः पवमानः स्याद् वैद्युतः पावकः स्मृतः ।

यश्चासौ तपते सूर्ये शुचिरग्निरसौ स्मृतः ॥

मैत्रायणी संहिता में अग्नि के तप, शोचि, अर्चि, हरः और तेज रूप कहे गये हैं। यास्क ने इस हरः का अर्थ ज्योति अधवा प्रकाश किया है। अग्नि का जो शुक्ल रूप है वह अग्नि के कारण है। ‘यत् शुक्लं तदाग्नेयं यत् कृष्णं तत् सौम्यम् । शतपथ. १/६/३/३१ अर्चि का रूप बताते हुये जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है कि अर्चि का अर्थ ज्वाला या (Flame) है। अथ ह वा अग्निर्वैश्वानर इत्यमेवास यथेमेऽङ्गाराः । सोऽकामयत् शुनष्टयो मे जायेन्न अर्चय इति । एते ह वा अस्य शनष्टयो यदर्चयः ।

अग्नेर्दुर्धता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।

शौचं रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वगमिता ॥

दुर्धर्षता, ज्योति, ताप, पाक, प्रकाशन, शौच, राग, लघु, तीक्ष्णता और ऊर्ध्वगमन अग्नि के दस गुण हैं। समस्त रंग (वर्ण) अग्नि की माया ही है। उत्पन्न होने के समय अग्नि में दीप्ति नहीं थी। ‘अग्निः सृष्टो नोददीप्यत । तं प्रजापतिरेतेन

^१ वायु पु. अध्याय २९ में अग्नि का रूप विस्तार देखें ।

^२ विष्णुपुराण : १/१०/१४

^३ विष्णुपुराण : १/१०/१६

^४ निरुक्त : ४/१९

साम्नोपाधमत । स उददीप्यत^१ अन्यत्र भी ऐसे भाव व्यक्ति किये गये हैं।^२ अग्नि का प्रिय तनु छन्द (Waves) है।^३

इस प्रकार पृथ्वी; अग्नि भूत विज्ञान का वह तत्व नहीं है जिसे भौतिक विज्ञान के आज के ज्ञाता समझते या समझाते हैं। आज भी भारतीय दर्शन में प्राप्त पंचीकरण की रासायनिकता गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखती है। विश्वास तो होता है कि एक दिन भूत का यथार्थ सत्य उजागर अवश्य होगा ।

^१ वायुपुराण : ६६/९९

^२ ताण्ड्य ब्रा. १३/३/२२ तथा मैत्रायणी सं. २/५/११ काठक सं. १३/३

^३ तैत्ति. सं. : ५/२/१

संस्कृत की खगोल भौतिकीय अवधारणाएँ

वायु

अन्तरिक्ष के यथार्थ ज्ञान के बिना पार्थिव विज्ञान एवं सौर्य क्रियाओं का रहस्य अनावृत नहीं होगा। आज का विज्ञान अन्तरिक्ष के ज्ञान संवर्धन का क्रमशः आनुसंधानिक विकास करता जा रहा है।^१ ईथर से शून्य में कास्मिक किरणें (Cosmic Rays) का अस्तित्व मानते हुये वे अब अन्तरिक्ष में गैस आदि का सूक्ष्म द्रव्य वहां है यह मानने लगे हैं। अन्तरिक्ष और उसमें व्याप्त वायु मण्डल का विशद वर्णन वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। प्रजापति की नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति का सम्बन्ध ऋग्वेद में बताया गया है। 'नाम्याः आसीद् अन्तरिक्षम्। परन्तु अन्तरिक्ष में वायु का प्रधान स्थान था।^२

वायु की सृष्टि एवं दीप्ति :

भूत वायु पहले विद्यमान था। अन्तरिक्षस्थ वायु कालान्तर में उत्पन्न हुआ। इसमें पवन (वहने की शक्ति) पैदा हुई। इस वायु ने व्यापक आपः पर क्या प्रभाव डाला यह तथ्य ज्ञात नहीं है। यह वायु अन्तरिक्ष में दीप्त रहता है। जैमिनीय ब्राह्मण का वचन है कि वायु अन्तरिक्ष में दीप्त होता है। 'वायुः अन्तरिक्षे (दीप्यते)।'^३

यजुर्वेद भी इसका समर्थन करता है— वायु तीक्ष्ण तेज युक्त है। याज्ञवल्क्य ने भी शतपथ ब्राह्मण में यही स्पष्टतः कहा है कि 'प्राण (वायु) से अग्नि दीप्त होता है।'^४ यथार्थ तो यह है कि वायांसि, मरीचित और पशु आदि अन्तरिक्ष में अग्निजन्य है। उसमें आग्नेय अंश है अतः वे ही वायु को दीप्त करते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण वायु तेज का वर्णन करता है। वायोष्ट्वा तेजसा। सूर्यस्थ त्व वर्चसा।^५

वायु की गति तिर्यक् है। सूर्यरश्मियों की भाँति वायु की गति ऊपर से नीचे की ओर नहीं है अपितु वायु की गति तिरछी है। अन्तरिक्ष में स्थित मरुत अन्तरिक्ष ही नहीं पृथ्वी पर के ऊपर एवं मध्य में चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। इसी कारण से वैद्युत—वायु और अपर वायु की गति तिर्यक् हो जाती है। जैमिनीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि—तस्माद् अयं वायुः अस्मिन् अन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते। ३/३१०॥

वायु की नाड़ियाँ :

वायु की नाड़ियाँ भी होती हैं 'वायुनाडीमयैर्दिव।'^६ इन नाड़ियों की गति

^१ ऋ. १०/९०/१४

^२ जैमिनीय ब्राह्मण १/१९२, यजु. वायुरसि तिग्मतेजा। (माध्यन्दिनि १/२४), १ शत. ब्रा. २/६/११-२

^३ शतपथ १०/६/२/११, 'प्राणेन वाग्निर्दीप्यते। अग्निनावायुः। वायुना आदित्य। आदित्येन चन्द्रमा।

^४ ताण्ड्य ब्रा. १/७/३, तथा ब्रह्माण्ड पुराण..... 'वायोर्भाभिः ॥'

^५ विष्णुपुराण द्वितीय ९/९

द्युलोक तक है। वायु के बन्धन में बंधकर तारे, नक्षत्र सूर्य और चन्द्रमा आदि अपनी अपनी गतियाँ कर रहे हैं। शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख है कि आदित्य जिस सूत्र में पिरोया हुआ है वह सूत्र वायु ही है।^१

वयः का सामान्य अर्थ पक्षी होता है। परन्तु ये वयांसि जो अन्तरिक्ष में अग्निजन्य कहा गया है वह पार्थिव पक्षियों से सर्वथा भिन्न है। हाँ इनका सम्बन्ध अग्नि से अवश्य है। तैत्तिरीय संहिता^२ में वय को निःसंदेह अग्नि कहा गया है। वय अग्निचित् पक्षियों और अग्नि को ही खाता है। इस वचन से पक्षी पद का तात्पर्य मानुष का पार्थिव पक्षी वय नहीं है। वयः अग्नि का वह रूप है जिसमें पैतृक अग्नि का प्रभाव पाया जाता है। अन्तरिक्ष का कारण पिता रूप में अग्नि एवं माता पृथ्वी हैं। यह ऋग्वेद में स्वीकार किया गया है।

‘अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्थ यो विभवसो ।’^३

स्पष्ट है कि अग्नि का श्रवः वयः अर्चियों की भाँति चमकता है। माध्यन्दिन् शतपथ^४ में इस मंत्र की व्याख्या में कहा गया है कि धूम इस अग्नि का श्रवः और वयः है। ‘धूमो वा अस्य (अग्नेः) श्रवोवयः । कुछ स्पष्ट होता है कि कथित अन्तरिक्षस्थ पक्षी अग्नि, वे धूम कण हैं वे ही श्रवांसि और वयांसि हैं। इनमें कुछ चमक भी होती है। वयांसि अग्नि से उत्पन्न होकर अपना आयतन अन्तरिक्ष में बनाते हैं। उन्हीं के द्वारा अग्नि अमृत होता है। ऋग्वेद का कथन है कि अग्नि वयांसि से अमृत हुआ। ‘अग्निः अमृतोऽभवत् वयोभिः’ वेद में पूर्व मरणधर्मी बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ‘मर्त्या ह वाऽअग्ने देवाः आसुः । इन्द्र, अग्नि, आदित्य वायु आदि देवता पूर्व में मर्त्य थे। ये पैदा होते और मर जाते थे। कालान्तर में ये अमृत हुये। इसी कारण से कहा गया है कि अग्नि वयांसि से अमृत हुआ । वयांसि ने जिस प्रकार से अग्नि को अमृतत्व दिया उसका वर्णन भी वैदिक साहित्य में प्राप्त है। इस वर्णन में वैदिक वांगमय पारस्परिक स्थैर्य नियम (Law of mutual stability) की स्थापना करते हुये कहता है कि ‘प्रकृति के विकारों से रहित होने से देवों में अमृतत्व आया । जो सूर्य रोचना रहित था वह रोचन करने लगा । ज्योत्स्ना हीन चन्द्रमा प्रकाश का हेतु बना। ग्रह जो पहले अपनी राशि विशेष में घूमते थे, वे विभिन्न राशियों में चक्कर काटने लगे। तब से सूर्य चन्द्र का उपराग हुआ । ये समस्त घटनाएँ पारस्परिक स्थैर्य नियम के अनुसार सम्पन्न हुई।

वयांसि उत्तपत्ति के सम्बन्ध शतपथ ब्राह्मण का एक वचन और उल्लेखनीय है । ‘प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति ।..... सप्रजा असृजत । ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः । तानीमानि वायांसि । पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम् । द्विपाद् व अयं पुरुषः । तस्मात् द्विपायो

^१ विष्णु पु. २/९/३ तथा शतपथ ८/७/३/१०, ‘तदसावादित्य इमान् लोकान् ।

सूत्रे समावयते तदयत् तत् सूत्रं वायुः सः ॥

^२ तैत्तिरीय संहिता : ५/७/६, ‘वयो वा अग्निः । यदग्निचित् पक्षिणोऽग्नीयात् तमेवाग्निम् अद्यात् ।

^३ ऋग्वेद १०/१४०/१; तथा यजुर्वेद १२/१०६

^४ शतपथ ७/३/१/२९

^५ ऋग्वेद : १०/४५/८

वयांसि वयांसि प्रजापति की प्रजायें हैं। जो द्विपाद् है। अन्तरिक्ष में स्थित वायांसि भी द्विपाद् है। एतदर्थं जैमिनीय ब्राह्मण का विवरण महत्त्वपूर्ण है। 'तस्य ह वज्रेण शीर्षाणि प्रचिच्छेद । तान्येव वयांसि अभवन्।' यहाँ सन्दर्भित त्रिशीर्षा विश्वरूप है। यह विश्वरूप इसलिये था कि पृथ्वी से लेकर परम दूर पर स्थित लोकों तक फैला हुआ था इन्द्र ने उसका वध किया। तदनु वृत्र रूप महामेघ (Nebul) से आपः परमाणु आग्नेय प्रभाव से वयांसि बने ।

प्रथम वयांसि अन्तरिक्ष सृष्टि के समय में बने । तब वृत्र का अस्तित्व था ही नहीं । आदित्य भी नहीं जन्मा था। वृत्र अंशों से बननेवाले वयांसि उत्तरकालवर्ती थे । ये वयांसि श्रेणियों में चलते हैं। 'वयो न ये श्रेणी पप्नुः ।'

तैत्तिरीय संहिता और कपिष्ठल संहिता में वयांसि से सम्बन्धित एक नई घटना का उद्घाटन हुआ जिसमें कहा गया है कि 'वयांसि के लिये यह पृथ्वी रात्रि में चमकती दिखाई देती । अतः वयांसि पृथ्वी पर रात्रि के समय नहीं बैठते। यहाँ वयांसि दिव्य और पार्थिव पक्षिगण दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। निश्चित ही यह अग्नि का माया जाल है।' पृथ्वी का रात्रि में चमकना ऋग्वेद भी स्वीकार करता है।^१ इससे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि पृथ्वी ज्योतिष्मती है। दिन में सूर्य तेज के कारण पृथ्वी का तेज मंद एवं दृष्टि से ओझल हो जाता है। रात्रि में वह तेज पक्षियों को दिखाई देता है। मनुष्यों को वह तेज दिखाई नहीं पड़ता वयांसि और पक्षियों की दृष्टि निश्चित ही मनुष्य से विचित्र या तीक्ष्ण है। पृथ्वी रात्रि में पृथ्वी पर नहीं बैठते संभवतः वे पृथ्वी तेज से डरते हैं। यह वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का भी उदाहरण कहा जा सकता है।

वायु या मरुतों के विषय में निम्न तथ्य अति स्पष्ट हैं। मरुतों के गण हैं। 'गणं मारुतं' मारुतं गणं, सगणो मरुद्भिः, गणशो हि मरुतः । सप्त सप्त हि मारुता गणाः। सात सात का मरुतों का एक गण है। सान्तापन, गृहमेधी और क्रीडी तीन प्रकार के मरुत हैं।^२ आप' कणों की विद्युतयुक्त रश्मियाँ मरुत हैं। वात दीप्ति वाले हैं। उनकी दीप्ति सूर्य रिकण के समान है। मरुत् रश्मि स्वरूप हैं। मरुतों के विषय विद्युत के साथ भी जुड़े हैं। यथा 'सं विद्यता दधति । तथा विद्युन्महसः ।'^३ यास्क ने भी निरुक्त में मरुतों को मध्यमस्थानी देवताओं में प्रथमागामी कहा है। उन्होंने जो ऋचा उद्धृत की है उसमें मरुत्व का विशेषण 'विद्युन्मद्भिर्मरुतः' लिखा है। दूसरा विशेषण स्वर्कः' है। यह विशेषण इंगित करता है मरुत कण, विद्युत युक्त हैं। जो केवल मेघों के समय ही नहीं होते हैं । यह उनका शाश्वत रूप है। मैकडानल ने मरुतों का सम्बन्ध तड़ित से जोड़ा है।^४

^१ शतपथ ब्रा. २/५/१/१, जैमि. ब्रा. २/५/१/१

^२ ऋग्वेद : ५/५९/६०

^३ तैत्ति.सं. ५/६/४, कपिष्ठल सं., ३५/३, 'सर्वा ह वाइयं वयोभ्यो नक्तं दशे दीप्यते।

तस्मादिमां वयांसि नक्तं नाध्यासते ॥

^४ ऋग्वेद १/६३/३ 'ज्योतिष्मतीय अदितिं धारयत् क्षितिम्।

^५ क्रमशः ऋ. ५/५३/३, यजु. ३३/४५/७/३७; ताण्ड्य ब्रा. ९/३/१/२५, यजु. २४/१६

^६ ऋ. ५/५७/४ ; ५/५५/३; ५/ ५/५/४२;

^७ वैदिक रीडर, पृ. २१

अन्तरिक्ष आपः से व्याप्त है। मरुत भी उसी आपः में रहते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण के अनुसार 'अप्सु वै मरुत श्रित्त मरुतः आपः आश्रित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण आपः को ही मरुत कहता है। आपो वै मरुतः^१ निष्कर्षतः कहा जा सकता है आपः, अग्नि और पृथ्वी के योग से मरुतों का जन्म होता है। ऋग्वेद में 'रुद्र' प्रायः अग्नि और विद्युत के रूप में चर्चित रहे हैं। ऋग्वेद रुद्र को मरुत का पिता कहता है। 'रुद्रस्य सुनवः।' तथा पितर्मरुतां (रुद्र) पद इसी अर्थ के वाचक है—^२ मरुत के विशेषणों में वेदों ने 'रिशादसः' 'प्राजत ऋष्ठयः', 'रुक्म वक्षसः', 'ऋष्टि, विद्यत्, हिरण्य शिप्रा' पदों का प्रयोग किया है।^३ इस प्रकार मरुत का अशनि और विद्युत से घना सम्बन्ध है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि मरुतों ने आपः से अग्नि को शान्त किया । शान्त ज्वाल अग्नि के हृदय को मरुतों ने काट दिया । 'मरुतोऽद्भिरग्निमतमयम् । तस्य तान्तस्य हृदयम् आच्छिन्दन् ।'^४ प्रत्येक अग्नि कण के बीच तजो अन्तरतम् परमाणु अंश है वही अग्नि का हृदय है। इस प्रकार के हृदय (Electron) टूटने से अशनि पैदा होती है। यह अशनि विद्युत से बलवती एवं शक्तिशाली है। ऋग्वेद^५ में मरुतों को अयो दंष्ट्र और हिरण्य चक्र कहा गया है। मरुत अयोदंष्ट्र और विद्युत शक्तियों से अन्तरिक्ष में चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करते हैं। इसी कारण से दिशाएँ स्थिर हैं। अग्नि, सूर्य किरणों और मरुतों में गतियाँ छन्दों में (Waves) में होती है। मरुतों के छन्द क्षुद्र होते हैं।^६ मरुतों का प्रभाव भूमि एवं दिशाओं तक पहुँचता है। दिशाएँ मरुतों की गति और इन चक्रों को सम्यक् बनाये रखती है। अन्तरिक्ष में सूर्य देवता का आभास भी मरुतों के कारण होता है।^७ अन्तरिक्ष में मरुतों का कितना क्षेत्र है । मरुतों का वर्षा से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'मरुतः सृष्ट्या वृष्टिं नयन्ति ।' स्पष्ट है कि वृष्टि व्यवस्थापन में मरुतों का पर्याप्त योगदान है। मरुत् दीप्ति युक्त विद्युत से अन्तरिक्ष में उत्पन्न होते हैं।^८

निष्कर्ष है कि अग्नि और विद्युत का भाग विशेष मरुत उत्पत्ति का कारण है। सांसारिक माया में भी मरुतों का विशेष योग है। वायु के सप्तमार्गों का संकेत पूर्व में किया जा चुका है। इनका वर्णन महाभारत शान्तिपर्व, मनुस्मृति, ऋग्वेद के

^१ कौषीतकी ब्रा. ५/४, ऐत. ब्रा. ६/३०

^२ ऋग्वेद, २/३३/१, १/८५/१

^३ ऋग्वेद १/३१/१, २/३४/२-३, यजुर्वेद ३/४४

^४ तैत्ति ब्रा. १/१/३/१२ "कपिष्ठल सं. ६/७ 'तस्य मरुत स्तनयितुनाहृदयमाच्छिदन ।

^५ ऋ. १/८८/५

^६ ताण्ड्य ब्रा. ७/१/३, 'मरुत्स्तोमा वा एषः । यानि क्षुद्राणि छंदांसि तानि मरुताम् ।

^७ ऋ. १/४५/१४; १/५०/५

^८ कपिष्ठल सं. ४६/७, तैत्ति. सं. २/४/१०; मरुतः सृष्ट्या नयन्ति । निरुक्त ७/२८

^९ ऋग्वेद : १/२३/१२ : हस्कराद् विद्युतस्पर्यते जाता अवन्तु नः ।

स्कन्द भाष्य आदि में प्राप्त है।^१ वायु मार्गों का विस्तृत वैदिक ज्ञान अन्तरिक्ष के रहस्यों को उद्घाटित करता है सातों वात स्कन्धों में विभन्न परमाणुओं के योग से विविध प्रकार के मरुत् प्रवाहित होते हैं। अतः सप्त वास्तस्कन्धों का विस्तार से वर्णन निम्न प्रकार प्राप्त होता है।

सप्त वायु मार्ग (वातस्कन्ध)

ऋषि प्रज्ञा ने प्राण, अपान समान, व्यान और उदान के भेद से ५ प्राण वायुओं का निरूपण किया है। इनमें अधोगामी वायु एवं ऊर्ध्वगामी वायु 'प्रवह' को सम्मिलित करके इनकी संख्या सात हो जाती है। इनमें प्रत्येक के सात भेद होने पर कुल वायुओं की संख्या ४९ बताई गई है।^२ महाभारत में उल्लिखित है कि पृथ्वी पर या आकाश में जहाँ भी वायु की गति है, उसके गमन के सात मार्ग हैं।^३ इनमें से प्रथम मार्ग में प्रवाहित होनेवाले वायु का नाम 'प्रवह' है। अन्य ६ मार्गों के वायुओं के नामः क्रमशः आवह, उद्रह, संवह, विवह, परिवह तथा परावह हैं।^४ नारद पुराण में भी इन वायुओं के उक्त सात नाम ही बताये गये हैं।^५ यही मत स्कन्द पुराण में भी व्यक्त है।^६

१. प्रवह :

पृथ्वीमण्डल की सीमा को लांघकर मेघ मण्डल पर्यन्त जो वायु स्थित है उसे प्रवह नाम से अभिहित किया गया है। यह अत्यन्तशक्तिमान वायु वादलों की इधर से उधर उड़ाकर ले जाता है। धूम तथा गर्मी से उत्पन्न होने वाले मेघों को प्रवह वायु ही समुद्रजल से पूर्ण करता है जो काली घटा के रूप में परिणित होते हैं। एवं अतिशय वर्षा के कारण बनते हैं।^७ समस्त जीवों के कल्याणार्थ पृथ्वी इन मेघों को चाहती है। जीमूतनामक मेघ जीवनोत्पादक है। ये प्रवह वायु के आश्रय से स्थित होते हैं।^८ ब्रह्माण्ड पुराण में भी यह वर्णन है। प्रतीत होता है कि इसका

^१ शान्तिपर्व ३०/७/२८, : तथा अध्याय ३६६, मनु. २/२/२६, वायु.पु. ४९/१६३, ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व, २२/३१,

^२ महाभा. शान्ति अ. ३०१/२४-२९ : प्राणापानी समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ।
अधश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः ॥
सप्तवातास्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान पुनः,
प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गाश्चैव ववहन् वरान् ।
^३ महाभारत ३२८/३१' : पृथिव्यामन्तरिक्षे च यत्र संवान्ति वायवः ।
सप्तैते वायु मार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः ॥

^४ महा. शान्ति. ३२८/३६-५२

^५ नारद पु. पूर्व भाग द्वितीयपाद अध्याय, ६०

^६ स्कन्द. माहेश्वर खण्ड कुमारिका खण्ड ६४/५३-६०

^७ स्कन्द. माहे. कुमारिका ६४/५३-५४ :

पृथिवीं समभिक्रम्य संस्थितो मेघमण्डले
प्रवाहो नाम यो मेघान्प्रवहव्य विशक्तिमान् ॥
धूमजाश्चोष्मजा मेघाः सामुदैर्येन पूरिता ।

^८ वायु. ५१/३६ :

तोयर्ध्वन्ति नी लाङ्गा वर्षिष्ठाश्चैव भारत ॥
जीमूतानाम ते मेघायेभ्यो जीवसंभवाः ।
द्वितीयं प्रवहं वायुं मेघास्ते तु सामाश्रिताः ॥

पाठ त्रुटित है।^१ सिद्धान्त शिरोमणि में उक्त सातों नामों एवं उनके क्रम में कुछ भेद से वर्णन उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के गोलार्ध्याय में लिखा है कि भूवायु आवह, उसके ऊपर प्रवह, उससे भी ऊपर प्रवह क्रमशः उद्रह, संवह, सुवह, परिवह एवं परावह ये सात प्रकार के पवन विद्यमान हैं। उनमें से पृथ्वी से १२३ योजन तक भू वायु है। इस वायु में मेघ विद्युत् आदि भी स्थिति है। उसके ऊपर प्रवह वायु है। यह सदा मध्यगति से सदा पश्चिम दिशा की ओर गमन करता है। यह भपञ्जर समस्त ग्रहों सहित नक्षत्र कक्षा एवं खेचर चक्र से मुक्त होकर प्रवह वायु द्वारा प्रेरित होकर निरन्तर भ्रमण किया करता है।^२ सिद्धान्त शिरोमणि के उक्त मत का स्रोत सूर्य सिद्धान्त के भूगोलार्ध्याय का एक श्लोक प्रतीत होता है।^३ जिसमें यह उल्लेख है कि दोनों ध्रुव तारों से बंधा हुआ तथा प्रवह वायु के द्वारा आक्षिप्त होता हुआ नक्षत्र चक्र भ्रमण कर रहा है। इसी से यथाक्रम ग्रह कक्षाएँ भी नियोजित हैं तथा इसी के साथ निरन्तर भ्रमण करती रहती है।^४ आर्यभट्ट ने भी इसी से मिलता जुलता विचार प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि उदय अस्त के लिए प्रवहवायु के द्वारा चलाया हुआ ग्रह सहित भपञ्जर लंका में पश्चिम की ओर भ्रमण करता है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार पृथ्वी तल से १२ कि.मीटर तक की ऊँचाई तक के वायुमण्डलीय स्तर को जिसे क्षोभमण्डल Troposphere भी कहते हैं, में ही ओषी मेघविद्युत् आदि क्रियाएँ होती हैं। अतः यह स्थापना करने के लिए पर्याप्त कारण है कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में वर्णित प्रवह वायु ही इन समस्त क्रियाओं का कारण है। प्रवह आदि सप्त वायुओं का वर्णन एवं विज्ञान द्वारा स्वीकृत वायु मण्डलीय चार स्तर, यह सिद्ध करते हैं कि सभी वायु में इन स्तरों में अन्तर्गुह्य है। इसका वर्णन इसी अध्ययन में आगे किया जायेगा।

2. आवह :

नारद पुराण के अनुसार जो आकाश में रस की मात्रा और बिजली

^१ ब्रह्माण्ड पुराण १२/२२/३९ : द्वितीयं प्रवहं वायुं मेघास्ते तु समाश्रिताः ।

एते योजनमात्राच्च सध्यर्द्धा निष्कृतादपि ॥

^२ सिद्धान्त शिरोमणि, गोलार्ध्याय : मध्यगति वासना १-३ :

भूवायुरावह इह प्रवहस्तादूर्ध्वः स्यादुद्रहस्तदनुसंवह संज्ञकश्च ।

अन्यस्तोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद्वाहः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः ॥१॥

भूमेर्बहिर्द्वादशयोजना नि भूवायुरास्त्रुदविद्युदाद्यम् ।

तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यगतिस्तस्य तु मध्य संस्था ॥२॥

नक्षत्रे कक्षा खचरैः समेतो यदस्मादतस्तेन समाहतोऽयम् ।

भपञ्जर खेचर चक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानि सेन ॥३॥

^३ सूर्य सिद्धान्त भूगोलार्ध्याय ७३ :

भचक्रं ध्रुवयोर्बद्ध माक्षिप्तं प्रवहानिलैः ।

पर्येत्यजस्रं तत्तद्धा गृहकक्षा यथाक्रमम् ॥

^४ आर्यभटीयम् — उद्गदक्षिणगोलकथनम्-१० :

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुना क्षिप्तः ।

लंका समपश्चिमगो भपञ्जरस्सग्रहो भ्रमति ॥

बिजली आदि की उत्पत्ति का कारण है वह तेज से परिपूर्ण द्वितीय वायु आवह नाम से प्रसिद्ध है। महाभारत में भी नारद पुराण के समान ही वर्णन उपलब्ध है।^१ ब्रह्माण्ड पुराण में वर्णन है कि विद्युत से विहीन जलर्षण में विलम्ब करने वाले महाकाय एवं मूक मेघों पर नियंत्रण करने वाले वायु का नाम आवह है।^२

मेघ आदि की क्रिया क्षोभ मण्डल Troposphere में होती है, जिसकी ऊँचाई पृथ्वी तल से १२ KM तक ही है। इससे आगे समताप मण्डल Stratosphere है जहाँ तापक्रम में परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी स्थिति में आवह वायु के द्वारा आकारा नें रस की मात्राओं एवं विद्युत की उत्पत्ति का कार्य क्षोभमण्डल में ही किया जाता है। फलतः प्रवह के समीप में ही अपनी क्रियाएँ संपादित करती है।

3. उद्धह :

नारद पुराण में उद्धह वायु के कार्यों में सोम—सूर्य अति ज्योतिर्मय ग्रहों का उदय एवं उद्वह करना चारों समुद्रों से जल का आहरण कर उसे ऊपर ले जाना तथा जीमूत मेघों को देना एवं जीमूतों को जल से परिपूर्ण करके उन्हें पर्जन्य के हवाले करना बतलाया गया है। इसी वायु को उदान भी कहा गया है।^३ महाभारत का भी यही कहना है।^४ स्कन्दपुराण में उद्धह को चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित बतलाते हुए उसे ध्रुव से आवद्ध होकर चन्द्रमण्डल के भ्रमण का कारण कहा गया है।^५ यही वायुपुराण का भी कथन है।^६ स्कन्दपुराण एवं वायु पुराण में व्यक्त रहस्यों के सम्बन्ध के अन्तर्गत ही क्रियाशील है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मेघों

^१ नारद : पूर्व भाग, द्वितीय पाद अध्याय—६०

^२ महा. शान्ति. ३२८/३७ :

अम्बरे स्नेहमभ्येत्यविद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः ।

आवहो नाम संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन् ॥

^३ ब्रह्माण्ड : १/२/२२/३४ :

विद्युत्तुण विहीनाश्च जलधार विल्विनः ।

मूकं मेघा महाकाया आवहस्य वशानुगाः ॥

^४ नारद : पूर्वभाग द्वितीय पाद, अ. ६०

^५ महा. शां.—अध्याय—६० : ३८—४०,

उदयं ज्योतिषां शश्वत सोमादीनां करोति यः ।

अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः ॥ ३८ ॥

यश्चतुर्थ्यः समुद्रेभ्यो वायुधारयते जलम् ।

उद्धत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः । ३९ ॥

योऽद्भिः संयोज्य जीभूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति ।

उद्धहो नाम वहिष्ठस्तृतीयः स सदागतिः ॥ ४० ॥

^६ स्कन्द : माहे. कुमारिका ३८१५६ :

तृतीयश्चोद्धहो नाम चन्द्रस्कन्धे प्रतिष्ठितः ।

बद्धं ध्रुवेण येनेदं भ्याभ्यते चन्द्रमण्डलम् ॥

^७ वायु.—६७/११६ :

सूर्योर्ध्वं तु ततः सोमादुद्धहो यस्तु वै स्मृतः ।

वातस्कन्धं तु प्राहुस्तृतीयश्च चरतां गणः ॥

के अनेक भेद बताये गये हैं। जीमूत एवं पर्जन्य नामक मेघ तात्विक दृष्टि से पृथक्-पृथक् माने गये हैं।

4. संवह :

चतुर्थ स्कन्ध में संवहा नामक वायु की स्थिति है। इसके द्वारा प्रेरित होकर अनेक प्रकार के नील वर्ण महामेघ घटाएँ बौधकर वर्षण प्रारम्भ करते हैं। इसे आकाशगामी देव विमानों का वहनकर्ता भी बताया है। यह पर्वतों का मानमर्दक भी है।^१ यह स्मरणीय है कि पर्वत को निघण्टु में मेघों के ३० नामों को पढ़ा गया है।^२ अतः इस स्थल पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह वायु चतुर्थ स्कन्ध में विद्यमान मेघों को अपने वशीभूत रखता है। महाभारत में भी संवह वायु के उपर्युक्त कार्यों का उल्लेख है।^३ स्कन्दपुराण का मत है कि संवह वायु की स्थिति नक्षत्रमण्डल में है। उसी के द्वारा ध्रुव से आबद्ध हुआ संपूर्ण नक्षत्रमण्डल भ्रमण करता है।^४ वायु पुराण में संवह के लिये सुवह शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पाठ ही त्रुटित है। क्योंकि वायु पुराण ने भी इसे चतुर्थ वातस्कन्ध का ही वायु माना है।^५

आज विज्ञान के मतानुसार वायुमण्डल Atmosphere में समस्त हलचलें क्षोभमण्डल में ही हुआ करती है। इसी स्तर में मेघगर्जन ओले विद्युत आदि की स्थिति रहती है। ऐसी स्थिति में संवहकी क्रिया क्षोभमण्डल के अन्तर्गत ही होती है। ध्रुव से संवह के द्वारा आवद्ध नक्षत्र मण्डल किस प्रकार भ्रमण करता है यह अन्वेषणीय है। अनुमानतः संवह में विद्यमान परमाणुओं की क्रिया दूरगामी होती है जो ध्रुव के आकर्षण विकर्षण में किसी प्रकार सहायक है।

5. विवह :

महाभारत में विवह वायु का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। तदनुसार यह अपने रुक्षभाव से वेगपूर्वक भयानक शब्द के साथ बहता हुआ बड़े-बड़े वृक्षों को तोड़ देता है। इसके द्वारा संगठित मेघ वलाहक कहलाते हैं। इसका संचरण भयानक उत्पात कारक है। यह आकाश में अपने साथ

^१ नारद : पूर्वभाग द्वितीय पाद, अध्याय-६०

^२ निघण्टु : १/१०

^३ महा. शा. ३२८/४१-४३ :

समूह्यमाना वहुधा येन नीताः पृथग् धनाः ।

वर्ष मोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति धनाधनाः ॥

संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदता नदाः ।

रक्षषर्थाय संभूता मेघत्वमुपयान्ति च ॥

यो ऽसौ वहितभूतानां विभानानि विहायसा ।

चतुर्थः संवाहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥

^४ स्कन्द : मा.कु. ३८/५७ :

चतुर्थ संवहोनाम स्थितो नक्षत्र मण्डले ।

वात रश्मिभिरावद्ध ध्रुवेण सह भ्रामते ॥

^५ वायु. ६७/११७ :

सोमादूर्ध्वं तवर्क्षेभ्यश्चतुर्थं संवहस्तु यः ।

चतुर्थो मम पुत्राणां गणस्तु चरतां विभो ॥

मेघ मालाएँ लेकर प्रवाहित होता है।^१ नारद पुराण में भी ऐसे ही वर्णन उपलब्ध है।^२

स्कन्दपुराण का मत है कि पञ्चम स्कन्ध का वायु विवह है जो ग्रहमण्डल में स्थित है तथा उसके कारण से ग्रह मण्डल भ्रमण करता है।^३ वायु पुराण का वर्णन भी स्कन्ध पुराण के अनुसार ही है।^४ इसके कार्यों पर विचार करने से यह भी शोभमण्डलीय वायु ही प्रतीत होता है जहाँ तक इसकी ग्रहमण्डल में स्थिति का प्रश्न है यह अन्वेषण का विषय है। इसके परमाणु भी दूरगामी परिलक्षित होते हैं।

6. परिवह :

परिवह षष्ठवात स्कन्ध का वायु है। इसके सम्बन्ध में महाभारत के प्राप्त वर्णन के अनुसार परिवह के आधार पर आकाश में दिव्य आपः ऊपर ही ऊपर प्रवाहित हुआ करते हैं तथा वह आकाश गंगा के पुण्य जल को धारण करके स्थित है। इसके द्वारा ही दूर से ही प्रतिहत होकर सहस्रों रश्मियों के उत्पत्ति स्थान दिवाकर जिनसे धरा प्रकाशमान है, का भी पोषण होता है। यह विजयशीलों में ज्येष्ठ षष्ठ वायु परिवह नामसे विख्यात है।^५ नारद पुराण में भी यही मत सुरक्षित है।^६ स्वयंभू ब्रह्मा जिस अण्ड कपाल से प्रार्दुभूत हुए हैं उसी अण्ड कपाल से समस्त मेघों का सृजन हुआ है। मेघों को धूम तृप्त करते हैं। मेघों में पर्जन्य श्रेष्ठ है। दिग्गज चतुष्टय गज, पर्वत, मेघ तथा योगियों का कुल पृथक् होने पर भी एक ही है क्योंकि इनकी एक मात्र उत्पत्ति जल ही है। हेमन्त ऋतु में समस्त शस्यों की वृद्धि के लिए शीत से उत्पन्न दिग्गज एवं पर्जन्य तुषार की वृष्टि किया करते हैं। श्रेष्ठ परिवह वायु इनका आश्रय स्थान है।^७ यह ब्रह्माण्ड पुराण में भी स्वीकृत मत

^१ महा.शान्ति. : ३२८/४४-४५ :

येन वेगवता रुग्णा रुक्षेण रुवतानगान ।
वायुनां सहिता मेघास्ते भवन्तिवलाहकाः ॥
दारुणोत्पात संघारैर् नमसः स्तनयितुमान् ।
पंचमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥

^२ नारद : पूर्व भाग, द्वितीय पाद, अध्याय, ६०

^३ स्कन्द० मा.कु. ६७/५८ :

गृहेषु पंचमः सोऽपि विवहो नाम मारुतः ।
गृह चक्रमिदं येन भ्रम्यते ध्रुव सन्धितम् ॥

^४ वायु. ६८/११८ :

यक्षेभ्यश्च तथैवोर्ध्वमाग्रह द्विवहस्तु यः ।
पंचम पंचमः सौम्यः एकधस्तुचरतांगणः ॥

^५ महा.शा. अ. ३२८ :

यस्मिन् परिप्लवा दिव्या वहन्त्यायो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशागंगायास्तोयं विष्टम्य तिष्ठति ॥
द्वयत् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येने भाति वसुंधरा ॥
यस्मादाप्यायत सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नामस वायुर्जयतां वरः ॥

^६ नारद वही, अध्याय ६०

^७ वायु. ५/४३-५४

है।^१ स्कन्दपुराण में उल्लेख है कि वायु की छठी शाखा का नाम परिवह है जो सप्तर्षिमण्डल में स्थित है। इसके द्वारा ध्रुव से सम्बद्ध हो सप्तर्षि आकाश में भ्रमण करते हैं।^२

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि परिवह वायु के स्कन्ध में हलचल नहीं है। यह पूर्व वर्णित वातस्कन्धों की अपेक्षा अधिक उच्च है। ऐसी स्थिति में यह १२ KM से ३२ Km की दूरी के मध्य में जिसे समताप मण्डल Stratospheres कहते हैं, विद्यमान है। इस वायु के परिमाणों की क्रिया भी दूरगामी प्रतीत होती है।

७. परावह :

सप्तम वायु परावह है। इसके सम्बन्ध में महाभारत का कहना है कि जो वायु अन्तकाल में समस्त प्राणियों के प्राणों को शरीर से पृथक करता है, जिसके इस प्राण निष्कासन रूप मार्ग का मृत्यु एवं वैवश्वत यम दोनों अनुगमन करते हैं जो निरन्तर आध्यात्म चिन्तन में निरत शान्तबुद्धि के द्वारा सम्यक् रीति से लगे हुये मनीषियों को अमृतत्व देने में समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्ष के दश सहस्र पुत्र समस्त दिशाओं के अन्त तक पहुँच गये एवं जिससे स्पष्ट होकर विलीन हुआ जीव यहाँ से जाता है तो वापस नहीं आता, उस दुरति क्रम वायु का नाम परावह है।^३ महाभारत के समान ही नारद पुराण भी अपना मत सुरक्षित करता है।^४ वायु पुराण के अनुसार आग्नेय, ब्रह्मज एवं पक्षज के भेद से मेष तीन प्रकार के होते हैं जिनमें पुष्करावर्तक नामक है जो कल्पान्तक वृष्टि करते हैं। इनका आश्रय स्थान परावह वायु है।^५ ब्रह्माण्ड पुराण भी वायु पुराण का समर्थन करते हैं।^६ स्कन्द पुराण के अनुसार परावह वायु ध्रुव में आबद्ध है। इसी के द्वारा ध्रुवचक्र तथा अन्याय मण्डल दृढ़तापूर्वक एवं स्थान पर स्थिति है।^७

^१ ब्रह्माण्ड : १/२/२२/४६-५०

^२ स्कन्द, वही, ३८/४९:

षष्ठ परिवहो नाम स्थितः सप्तर्षिमण्डले ।

भ्रमन्ति ध्रुवसम्बद्धा येन सप्तर्षयो दिशि ॥

^३ महा. शान्ति. अ. ३२८ :

सर्वप्राणभूतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।

यस्य वर्तमानवर्तेत मृत्यु वैवश्वततावुभौ ॥९॥

सम्यग्दीक्षातां बुध्याशान्तयाध्यात्मनित्यया ।

ध्यानाभ्यासभिरमाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥१०॥

यं समासाद्यवेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।

दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥११॥

येन स्पष्टः पराभूतो यात्येवम निवर्तते ।

परावहो नाम परे वायुः स दुरति क्रमः ॥१२॥

^४ नारद, वही, अ. ६

^५ वायु. ५१/३७-४१

^६ ब्रह्माण्ड १/२/२२/४०-४५

^७ स्कन्द, वही : ६८/६० :

सप्तमश्च ध्रुवेबद्धो वायु र्नामा परावह

येन संस्थापितं धौव्यं चक्रं चाऽन्यानि भारत ॥

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट होता है कि परावह वायु का कार्य जहां तृतीय मेघों का नियमन करना है वहां कल्पान्त में होने वाली वृष्टि में भी इसका योगदान है। इसका स्थिति भी समताप मण्डल में ही अनुमानित होती है।

सप्तम वायु स्कन्ध से आगे :

हम आज विज्ञान से यह जान सके हैं कि ३२ से ४० कि. मी. तक का मण्डल जिसे ओजोन मण्डल Ozonosphere कहते हैं, में सूर्य की परावैगानी (Ultra Viole) किरणें शोषित है। तथा उसके ऊपर के स्तर के सम्बन्ध में अधिक जानकारी संस्कृत साहित्य में प्राप्त नहीं हो सकी है। इसे आयन मण्डल (Ionosphere) कहते हैं।

स्कन्द पुराण के इसी से मिलता जुलता विचार व्यक्त किया गया है। तदनुसार ध्रुव से ऊपर जो स्थान है वहां न तो सूर्य प्रकाशित होते हैं और न नक्षत्र तारे ही उदित होते हैं। वहां अपने तेज व शक्ति से स्थिति पाई जाती है।

ब्रह्मा—सरस्वती वैज्ञानिक प्रसंग :

श्रीमद् भागवत् के तृतीय स्कन्ध के १२वें अध्याय में सृष्टि का विस्तार किस प्रकार हुआ इसका विस्तृत वर्णन विद्यमान है। इसी प्रसंग में लिखा है कि ब्रह्मा की पुत्री सरस्वती थी, जो अत्यन्त सुन्दर थी। एक बार ब्रह्मा जी उस पर काम मोहित हो गये यद्यपि सरस्वती के मन में वासना सम्बन्धी कोई विचार नहीं था। इस प्रकार का अधर्मयुक्त भाव देखकर उनके पुत्र मरीचि आदि ने उनसे कहा कि पिताजी आप पुत्री गमन जैसा जघन्य पाप करने का विचार कर रहे हैं। इस प्रकार का आचरण तो आपसे पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्मा ने नहीं किया। यह आपको शोभा नहीं देता। मरीचि ने इस कथन पर प्रजापतियों के प्रति ब्रह्मा अत्यन्त लज्जित हुए तथा उन्होंने शरीर का त्याग कर दिया। उस त्यागे हुए शरीर को दिशाओं ने ग्रहण कर लिया तो कुहरा हुआ जिसे तम भी कहते हैं।^१

भागवत् के इस प्रसंग पर बहुत सी शंकाएँ उठाई जाती रही हैं। इसका विद्वानों ने वैज्ञानिक आख्यान के रूप में रहस्योद्घाटन किया है। उक्त प्रसंग सृष्टि के विस्तार के अन्तर्गत है। ब्रह्मा का शरीर त्यागना, दिशाओं द्वारा मृत शरीर ग्रहण करना इसका कुहरा बन जाना उसे तम कहा जाना यह सिद्ध करता है कि यह आख्यान सामान्य न होकर रहस्यात्मक है। इससे पूर्व कि इस रहस्य के उद्घाटन की दिशा में आगे बढ़ा जाय। यह आवश्यक है कि यह भी देखा जाय कि इन पुराणों के अतिरिक्त क्या इसके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख विद्यमान है।

^१ स्कन्द. : उर्ध्वाध्वं सूर्यं चाप्यनक्षत्रमतारकम्।

स्वतेजसास्वशक्त्याचाधिष्ठितास्तेहि नित्य—द्रा ॥

^२ भागवत. ३/१२/२८—३३ :

वाचं दुहितरं तन्वी स्वयम्भूर्हरती मनः ।

अकामां चकमे क्षन्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥ २८ ॥

तमधर्मे कृतमसि विलाक्यपितरं सुताः मरीचि मुख्या मुनयो

विश्रम्भात्प्रबोधयन् ॥ २९ ॥.....॥३३॥

वैदिक साख्य :

ऋग्वेद शाकल्य संहिता के हिन्दी भाष्यकार पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ने मंत्र संख्या १०/६१/५-७^१ के भाष्य में लिखा है कि, “ जो प्रजापति वीर्य पुत्रोत्पादन में समर्थ है वह बढ़कर निकला प्रजापति ने मनुष्यों के हित के लिए रेत का त्याग किया। अपनी सुन्दरी कन्या (उषा) के शरीर में ब्रह्मा का प्रजापति ने उस शुक्र (वीर्य या रेत) का सेक किया ॥५॥

“जिस समय पिता युवती कन्या (उषा) के ऊपर पूर्वोक्त प्रकार से रति कामी हुए और दोनों का संजमन हुआ उस समसय दोनों के परस्पर संगमन से अल्प शुक्र का सेक हुआ । सुकर्म के आधार स्वरूप एवं अन्त स्थान में उस शुक्र का सेक हुआ॥६॥

जिस समय पिता ने अपनी कन्या (उषा) के साथ संभोग किया उस समय पृथ्वी के साथ मिल कर शुक्र का सेक किया । सुकृति देवों ने इससे व्रतरक्षक ब्रह्म (वातोष्पत्ति वा रुद्र) का निर्माण किया॥ ७॥

आचार्य सायण ने उक्त मंत्र का भाष्य करते हुये लिखा है— “ पिता प्रजापतिर्यं घ द्वा स्वं दुहितरं दिवमुषसं वाधिष्कन् अध्यस्कन्दत तदानीमेव क्षमया पृथिव्या सह पंजरमानः संगच्छमानः प्रजापतिरस्मिल्लोके रेहितो भूत्वा रेतोनिषिंचत॥

इस मंत्र के भाष्य में सायण ने दुहितरं को ‘दिवम् उषसं’ माना है। इसी प्रकार वैकटमाधव ने भी दुहितरं का अर्थ दिवम् उषसं वा’ किया है।^२ इसी आशय का एक मंत्र अथर्ववेद शौ.सं. में मिलता है:

द्यौरनः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नोमाता पृथिवी महीयम्।

उत्तान योश्चम्बो दूर्योनिरन्तरा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥

(अथर्व शौ.सं. १/१०/२)

इसके भाष्य में R.T.H. Griffith ने द्युलोक को पिता एवं पृथ्वी को माता मानते हुए विस्तृत विश्व के उभय अर्द्धों के मध्यभाग को जन्म स्थान लिखा है तथा पिता ने पुत्री के जीवाणुओं को उसमें स्थापित किया माना है।^३ इसके फुट नोट में पुनः लिखा है, “ The firmament or space between

^१ भागवत. , पृथिष्ठ यस्य वीरकर्मभिषादनुष्ठितं नु नयौ अपीहरत् ।

पुनस्तदा बृहति यत् कनाय दुहितुर्ग अनुभृतमनार्थ॥

मध्यायत् कर्त्वमभवदमीके कामं कण्वाने पितरि युवत्याम् ॥

माननप्रेतो जहुतर्वियन्ता सा नौ निषक्तं सुकृतस्य योनौ॥६॥

पिता यत् स्वां दुहितमधिष्कन् क्षम या रेतः संजमानो निषिंचित्।

स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्मा देवा वास्तोषपतिं व्रत यां निरतक्षन्॥७॥

१०/६१/५-७

^२ ऋ. शा. सं. १०/६१/७,

वैकट माधव का भाष्य : पिता यत् स्वाम् दुहितरम् दिवम् उषसं च अध्यस्कन्दत्’.....।

^३ Griffith – On Atharv Veda Shaunak. : 9/10/12 Dyaies is our Father. Our begelter: Kinship is here. This great earth is our Kin and mother between the widespread worrdhalves is the birthplace the Father laid the daughter gerona is it.”

these two is an the region of the rain; the womb of all beeing. The Father depends upon the germ of rain laid in the firmament.

इस प्रकार त्रिभिन्ने ने 'दुहितुर्गर्भाधात्' का रहस्य विस्तृत अवकाश-आकाश में वर्षा के germs की स्थापना माना है। इसका आशय उनके मतानुसार वर्षा के विभिन्न तत्सम्बन्धी परमाणुओं का आकाश में संकलन होना है। ऐतरेय ब्राह्मण (३/३३) में सृष्टि कर्म का वर्णन आख्यान रूप में मिलता है। इसके अनुवाद में श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय ने लिखा है, "प्रजापति ने अपनी दुहिता से भोग करना चाहा। उसको कुछ द्यौ कहते हैं कुछ ऊषा बताते हैं। उसने स्वयं रिश्य (हिरण) का रूप रख लिया और दुहिता रोहित (हिरणी) बन गई। वह उसके पास गया। उसको देवों ने देखा और कहा कि अरे प्रजापति अकृत कार्य करता है। उन्होंने पूछा कि क्या कोई ऐसा है जो इस दोष की निवृत्ति कर दे। अपने लोगों में इनको इस कार्य के योग्य कोई नहीं मिला। उनमें जो घोरतम अंश या उसको उन्होंने इकट्ठा किया। उससे एक देव पैदा हुए जिसका नाम भूतवान हुआ। जो इसके इस नाम को जानता है। वही उत्पन्न होता है। देवों ने उससे कहा प्रजापति ने जो यह न करने योग्य कार्य किया है, उस कार्य को बीध दो। उसने ऐसा ही किया फिर उसने कहा मैं एक वर मांगता हूँ। उन्होंने कहा मांग। उसने पशुओं का आधिपत्य मांगा। अतः उसका नाम पशुमान पड़ा। जो उसके इस नाम को जानता है वही पशुवान होता है। उस भूतवान ने प्रजापति के दुष्कर्म पर आक्रमण कर उसे बीध दिया वह विधा हुआ कर्म ऊपर उड़ गया। उन्हीं को मृग (नक्षत्र) कहते हैं और जिसने उसे मारा उसे मृग व्याध। वह जो रोहित (हिरणी) थी रोहिणी हुई। वह जो वाण था वह तीन फल वाला (त्रिकाण्ड) थे। वह आकाश में चमकने वाला वाण हो गया। प्रजापति का जो वीर्य वह सरोवर बन गया।

इस प्रसंग के आरम्भ में ही प्रजापति की दुहिता को द्यौ एवं उषा नाम से अभिहित किया गया है साथ ही नक्षत्रों की उत्पत्ति का भी इतिवृत्तात्मक वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अनेक श्रुतियाँ इस कथानक के सम्बन्ध में मिलती हैं।

१. प्रजापतिः स्वां दुहितरभभिदह्यौ (शत.ब्रा. १/७/४/१)

२. प्रजापतिर्वा इदमासीतस्य वाग् द्वितीयासीत्तामिथुनं समभवत्ता गर्भमादधत् । (ताण्ड्य ब्रा. २०/१४/२)

३. प्रजापतिरूषषसमध्यैत स्वां दुहितरम्- (ताण्ड. ८/२/१०)

सूर्य सविता प्रजापति है :

१. श्रीमद्भागवत (३/१३/३३)^१ गोपथ २/५/८^२ में ब्रह्मा को प्रजापति कहा गया है।

^१ भाग. ३/१८/३३ : प्रजापति पतिस्तन्व तत्याज.....।

^२ गोपथ : २/४/८ अथो प्रजापतिर्वै ब्रह्मा ।

२. गोपथ ब्रा. (१/५/२२)^१ में प्रजापति को सविता बताया गया है।
३. ताण्ड.ब्रा. (८/२/१०)^२ एवं शतपथ ब्रा. (१२/३/५/१)^३ एवं शतपथ ब्रा. (१२/३/१) में भी सविता प्रजापति है।
४. तैत्तरीय ब्राह्मण १/६/४/१)^४ में लिखा है कि प्रजापति ने सविता होकर प्रजाओं की रचना की।

सूर्य = (ब्रह्मा) की पुत्री उषा है।

१. ऋग्वेद शा.सं. १०/६१/७, के भाष्य में सायण ने प्रजापति की दुहिता को दिवस अथवा उषा माना है।
२. इसी मंत्र के भाष्य में बैकर माधव ने भी ब्रह्मा की दुहिता को दिवस अथवा उषा ही माना है।
३. ताण्ड.ब्रा. (८/२/१०)^५ में उषा को स्पष्ट रूप से प्रजापति की पुत्री बताया है।
४. ऐतरेये ब्राह्मण ३/३३, में भी^६ प्रजापति की दुहिता को दिवस या उषा अंकित किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रजापति की दुहिता का ऊषा अर्थ ही ग्राह्य है। जो आख्यान का रहस्य उद्घाटन करने में समर्थ है।

सूर्य = ब्रह्मा के पुत्र :

१. श्रीमद्भागवत् (३/१२/२९)^७ में ब्रह्मा के पुत्र मरीचि का नाम अंकित है।
२. मरिचि^८ सूर्य की किरणें हैं। निषण्डु में किरणों के १५ नामों में मरीचि का नाम पढ़ा गया है। देवराज यज्वा ने मरीचि को सूर्य रश्मि माना है।

सूर्य से किरण है। उसके पुत्र हैं। अतः ब्रह्मा = सूर्य का पुत्र मरीचि रश्मि ही है।

सारांश :

उपर्युक्त विवेचन पर समान्वयात्मक दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा सूर्य की पुत्री उषा है। उषा का आगमन सूर्य से पहले होता है। सो आगे उषा पीछे सूर्य जाता है। उसे ही भागवत में (३/१२/३०) में 'य त्वं दुहितरं गच्छेः' वाक्यांश में प्रदर्शित किया गया। इसका अभिप्राय सूर्यका पीछे जाना है। मरीचि आदि पुत्र सूत्र की किरणें हैं। इस आख्यान के अंत में कहा

^१ गोपथ १/४/२२, सवित्रं ह स्म वैतं पूर्वं पुरस्तात् पशुमालभन्त इति में तर्हि प्राजापत्यं यो सविता स प्राजापतिरिति।

^२ ताण्ड.ब्रा. ८/२/१०, प्रजापतिर्वैसविता।

^३ शतपथ ब्रा. २/३/५१/१, यो ह्यवे सवितां स प्रजापतिः।

^४ तैत्तरीय ब्रा. १/६/४/१, प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत।

^५ ताण्ड.ब्रा. ८/२/१० प्रजापतिरुषमध्यैत्स्वां दुहितरं।

^६ ऐत. ब्रा. ३/३३ प्रजापतिः वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायाद्भवमित्यन्त आङ्गुरुषसमित्यन्ये।

^७ भाग. ३/३३....., मरीचिमुख्या....., विश्रम्भात्प्रबोधयन्।

^८ निषण्डु १/४/११, देवराजयज्वाकृत।

गया है कि उस त्यागे शरीर को सूर्य की दिशाओं ने ग्रहण किया जो कुहरा बन गया।^१

सूर्यास्त होना ही शरीर त्याग है। सूर्यास्तोपरान्त दिशाओं में अधिकार आच्छादित हो जाता है। इसी समय वायुमण्डल में व्याप्त अप् तत्वों के परमाणु शैत्य की प्रधानता होने पर द्रवीभूत होने लगते हैं जो नीहार (कुहरा) रूप में देखा जाता है।

वर्तमान विद्वानों का मत भी कुहरे के सम्बन्ध में समान ही है। श्री कृपाशंकर गौड़ का मत है— “ वायु के ठंडे होने पर उसके उड़ते रहने वाले धूल कण वाष्प का कुछ भाग जल बिन्दुओं में परिणित होकर बैठ जाता है। इससे वातावरण धुंधला सा हो जाता है। इसे कुहरा कहते हैं। हल्के कुहरे की सघनता के कारण दूर की वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। सूर्य के निकलने के बाद धूल कणों पर लटके जलबिन्दु पुनः वाष्प बन वायु में व्याप्त हो जाते हैं और वातावरण साफ हो जाता है। कभी कुहरा इतना घना होता है कि होता है कि दिन चढ़ आने पर भी धुंध बनी रहती है। ठंडे देशों में ऐसा बहुधा हो जाता है।^२

मीमांसक कुमारिक भट्ट का मत :

प्रजापति को सूर्य मानते हुए कुमारिल ने इस आख्यान को उपापरक माना है।^३ उनके मतानुसार प्रजापालक होने के कारण आदित्य को प्रजापति कहा जाता है। वह अरुणोदय वेला में उषा के उपरान्त उत्पन्न होता है। वह (उषा) आदित्य के आगमन से ही उत्पन्न होती है। एतदर्थ उसको पुत्री रूप में वर्णन किया जाता है। उसी (उषा) में वह आदित्य अपनी अरुण किरण बीज का निक्षेप करता है जिसे उपचार से स्त्री पुरुष योग की शांति कहा जाता है।

कुमारिल का यह मत प्रदर्शित करता है कि भागवत् का यह आख्यान सूर्य उपापरक है तथा उसका यह अर्थ परम्परागत रूप में प्राप्त है।

स्वामी दयानन्द की सहमति :

दयानन्द सरस्वती ने भी इस प्रसंग को सूर्य उपापरक ही बताया है। उनके श्रगब्दों में “सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापति संज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावदु घौरुषा चारित। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत् सतस्य पितृ वदिति रूपलंकारोक्तिः। स च पिता तां रोहितां किंचिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋण्यवच्छी घ्नमध्यध्या यत् प्राप्नोति । एवं प्रातः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पपादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्यद्विवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्। यस्मिन् भू प्रदेशः प्रातः पंचघटिकायां रात्रौ स्थितियां किंचित्सूर्य प्रकाशेन रक्ता भवति तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पिता दुहित्रोः समागमनात्करदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां संतानोत्पत्तिर्भवति तथैवत्रापि बोध्यम् । (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिः ग्रन्थ प्रा० विषयः ।

^१ भागवत ३/१२/३३ तां दिशो जघृदुर्घोषं नीहारं यद्वि दुस्तमः ।

^२ भौतिक भूगोल के सिद्धान्त : पृ. ४१ कृपाशंकर गौड़

^३ तंत्रवार्तिक १/३/७, प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारान् आदित्य एवोच्यते सच अरुणोदय वेलायां उषसमुन्नेयैत । सा तयागमनादेवो प्रजायत इति तद् दुहितृत्वेन व्यगदशियते तस्यां चारुणकिरणाख्य बीजं निक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः ॥

यहाँ प्रजापति सूर्य को कहते हैं जिसकी दो कन्या प्रकाश और उषा है क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसकी ही संतान कहाता है इसलिये उषा जो तीन व ४ घटी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तिम दीख पड़ती है। वही सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उनमें से उषा के समुख जो प्रथम सूर्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य स्थापना के समान है। उन दोनों के समागमन से पुत्र दिवस उत्पन्न होता है। यहां उषा एवं दिवस की उत्पत्ति का अब कारण वर्णन है।

वैदिक वायु विद्या

४८ प्रकार की वायु एवं उनका वर्णन

शुक्ल यजुर्वेद १७/८०	तैत्तिरीय ब्राह्मण II ६९९	महाभारत(शान्ति) पृ. ६८	बृहमाण्ड पुराण २६७	वायु पुराण
शु.यजु.	ब्रह्माण्ड	वायु	गरुण	
१. शुक्रज्योति	शक्रज्योति	सत्वज्योति	एक ज्योति (६-५८-६५)	
२. चित्रज्योति	सत्य	आदित्य	द्विज्योति	
३. सत्यज्योति	सत्यज्योति	तिर्यकज्योति	त्रिज्योति	
४. ज्योतिष्मान	चित्रज्योति	सज्ज्योति	चतुर्ज्योति	
५. शुक्र	ज्योतिष्मान	ज्योतिष्मान	एक शुक्र	
६. ऋतया	सुतया	रहित	द्विशुक्र	
७. अत्ययंहा	—	सत्यज्योति	त्रिशुक्र	
८. ईदृङ्	ऋतजित्	ऋतजित्	ईदृक्	
९. अन्यादृङ्	सत्यजित	सत्यजित	अन्याहक्	
१०. सदृङ्	सुषेण	सुषेण	सहक्	
११. प्रतिसदृङ्	सेनजित	सेनजित	प्रतिसहक् ।	
१२. मित	सुतमित्र	सत्यमित्र	मित	
१३. समित	अमित्र	अभिमित्र	समित	
१४. सभर	सुरमित्र	हरिमित्र	सुमति	
१५. ऋत	धातु	ऋत	ऋतजित्	
१६. सत्य	धनद	सत्य	सत्याजित्	
१७. ध्रुव	उग्र	ध्रुव	सुषेण	
१८. धरुण	भीम	धर्ता	सेनजित	
१९. धर्ता	वरुण	विधर्ता	अतिमित्र	
२०. विधर्ता	—	विधारय	अभिन्न	
२१. विधारय	—	ध्वान्त	द्वरेमित्र	
२२. ऋतजित्	अभियुक्त	धुनि	अजित	
२३. सत्यजित	अक्षिक	उग्र	ऋत	
२४. सेनजित्	साह्याव	भीम	ऋतधर्मा	
२५. सुषेण	—	अभियु	विहर्ता	
२६. अन्तिमित्र	—	साक्षिप	वरुण	
२७. दूरे-अमित्र	—	आह्वय	ध्रुव	

संस्कृत की खगोल भौतिकीय : अवधारणाएँ

5

२८. गण	—	—	विधारण
२९. ईदृक्ष	ईदृक्ष	ईदृक्ष	गृहभेकगण
३०. एतादक्ष	अन्यादृक्ष	अन्यादृक्ष	ईदृक्ष
३१. सहक्ष	ससशित्	प्रतिकृत	सहक्ष
३२. प्रति सहक्ष	द्रुम	व्याहक्	एतादक्ष
३३. मित	वृक्ष	ऋक्	मिताशन
३४. समित	मित	समिति	एतनः
३५. समर	समित	सरम्भ	प्रसहक्ष
३६. स्वतवान्	ईदृक्	ईदृक्ष	सुरत
३७. प्रघासी	पुरुष	पुरुष	महातप
३८. सांतपन	नान्याहक	अन्यादृक्ष	तादृक्ष
३९. गृहभेधी	समचेतन	चेतस	उग्र
४०. क्रीडी	समित	समिता	ध्वनि
४१. शाकी	समवृत्ति	समिदृक्ष	मासः
४२. उज्जेषी	प्रतिहर्ता	प्रतिदृक्ष	वियुक्त
४३. उग्र	—	मरुतिद्	विक्षिप
४४. भीम	—	सरत	सह
४५. ध्वान्त	—	दिश	द्युति
४६. धुनि	मानुष	यजु	वसु
४७. साहव्हान	विश	अनुदृक्ष	वलाधृष्ण
४८. अभियुग्वा	दैत्य	साम	लाम
४९. विक्षिप	देव	मानुषीविश	काम
५०.		दैत्य	विराट
५१.		देव	उद्वैषण

अमरकोश पृ. ११/श्लोक—६४

श्वसन	नमस्वत्
स्वर्शन	वात
वायु	पवन
मातरिश्वन	समीरण
सदागति	२० नाम
पृषऽश्व	प्रलापन/आंधी
गधर्वाह	महावात
अनिल	महापवन+वर्षा—अमावात
अशुभ	प्राण
समीर	अपान
मरुत	ध्यान
जगत्प्राण	समान
प्रभंजन	

संस्कृत की खगोल भौतिकीय अवधारणाएँ

मेघनामानि, ब्रह्माण्ड, पृ. ३३:

निघण्टुस्क

वायुपुराण, पृ. १७०

मेघ, उग्र, आग्नेया, ब्रह्मजा, पक्षजा, आग्नेया, उष्णजा, (धूम्र) महिषा, वराहा, प्रवह, विधुदगुणा, मत्तमातंग जीमूत, मूकर्भेधा, गर्भधा, प्रियस्वता स्तनयितु, पुष्कारावर्तक, अण्डकपाल, पर्जन्य,

भूमि की ऊँचाई ७० योजन स्कन्द पुराणांक, पृ. ११५

मरुद्गण :

ऋग्वेद में लगभग ३६ सूक्त अकेले मरुतों से सम्बन्धित है। वृहद् में मरुतों को मध्यम स्थानी देवता बताया गया है। (१/१०३) ।

ततस्तु मध्यम स्थानादेवतास्त्वनुशंसति ।

रूद्रं मरुतश्चैव स्तोत्रियेऽग्निमिदं पुनः ॥

तत आगच्छति मध्यस्थाय देवता रूद्रं च मरुतश्च

तवोऽग्निमिहस्थानम् अत्रैव स्तोत्रियं शंसति (निरुक्त ७/२३) ।

पुराणानुसार मरुद्गण उत्पत्ति—विष्णु पुरा० १/२१/३० इन्द्र मो राहीः
७X७ = १४९ संहिताभाग में मरुतो का परिचय निम्नवत है:

आ विधुन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमकद्भिरश्वयर्णैः ।

आ वर्षिष्ठयो न इषा वयो न पत्नया सुमायाः ॥ ऋ. १/८८/१

४९ वायु :

गरुड. ६/५८-६५

उद्योग पृ. २७००-७०१

तैत्ति ब्रा. II/ ६६९

शान्ति. ५२२६

पृथ्वी मण्डल से ऊपर की ओर :

भारतीय मनीषियों ने प्रारम्भ से ही ब्रह्माण्ड एवं विभिन्न लोकों के सम्बन्ध में चिन्तन किया था । उनके ज्ञान के अनुसार पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोक भी थे ।

तीन लोक :

वेदों में ही तीन लोकों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र जिसके देवता आदित्यगण हैं, में लिखा है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग को आदित्य धारण करते हैं इनके यज्ञ में तीन प्रकार के वृत्त (कर्म) हैं। हे आदित्यगण ऋत के द्वारा तुम्हारी गरिमा अधिक हुई है। अर्यमा, मित्र एवं वरुण से तुम्हारा महत्त्वश्रेष्ठ है।^१ तैत्तिरीय संहिता में भी तीन ही लोकों का उल्लेख है।^२ ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी तीन ही लोकों को स्वीकार किया गया

^१ ऋग्वेद शाकल्य सं. २/२७/८ :

त्रिसो भूमीधारियन् वीरुत धून्व्रीणि व्रता विदधे अन्तरेषाम् चारु।

ऋतेनादित्या महि वो महहित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ।

^२ तैत्तिरीय सं. २/५/११/५-६ :

त्रय इमे लोकाः ।

हैं।

मनुस्मृति में भी तीन ही लोकों की चर्चा है।^१ तैत्तिरीय ब्राह्मण में भूः भुवः एवं स्वः इन तीनों व्याहृतियों से भ्रजन के सम्बन्ध में लिखा है कि प्रजापति ने अपने सत्य संकल्प से भूः के द्वारा भूमि भुवः के द्वारा अन्तरिक्ष वं स्वः के द्वारा द्यु लोक की रचना की।^२ शतपथ ब्रा. में एक अन्य स्थान पर मनुष्य लोक, पितृ लोक एवं देवलोक तीनों लोकों का उल्लेख है।^३

सात लोक :

विष्णु पुराण में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, एवं सत्य नामक सात लोकों का वर्णन है। इनमें से भूः भुवः स्वः को कृतक त्रैलोक्य, जनः तपः एवं सत्य को 'कृततक' त्रैलोक्य तथा मध्यवर्ती महलोक को कृतकाकृत लोक कहा गया है।^४ जैमिनीय ब्राह्मण में इनके नाम—उपोदक, ऋतधा, अपराजित, अमिधु, प्रधुः गेचन एवं विष्टप कहे गये हैं।^५

पांच मण्डल :

वेद के श्रेष्ठ विद्वान् पं. मधुसूदन ओझा ने स्वयम्भू परमेष्ठी, सौर, चन्द्रमस् एवं पृथ्वी मण्डल का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। तद्नसार पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी इन पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि—“जैसा कि स्वयं मण्डल सबसे बड़ा है। उसकी व्याप्ति में उसके लोक में, उसके साम में हमारा एक ब्रह्माण्ड संपूर्ण रूप से आता है। उसके बाहर हमारे ब्रह्माण्ड का कोई

^१ शतपथ १/२/४/२० :

त्रयो वा इमे लोकाः ।

^२ रक्षायन आरण्यक : २/१७ :

त्रयो वा इमे लोकाः ।

^३ मनुस्मृति — १२/९७ :

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥

^४ तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/४/२ :

स चतुर्होतामसृजत् । सोऽन्द्रत् । असृष्टि वा इममिति । तस्य सोमो हविरासीत् । स चतुर्होतामसृजत् । सोऽताभ्यत् । सभूरिति व्याहरत् । सभूमिमसृजत् । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यज् । षि । स द्वितीयमतप्यत् । सोऽताभ्यत् । स भुवः इति व्याहरत् । सोऽन्नस्त्रिमसृजत् । चातुर्मास्यानिसामानि । स तृतीयमतप्यत् । सोऽताभ्यत् । स सुवरिति व्याहरत् । स दिवमसृजत् । अग्निष्टोमुकथ्यमतिराजमृचः । सोऽताभ्यत् । स सुवरिति व्याहरत् । व दिवमसृजत् । अग्निष्टोमुकथ्यमतिराजमृचः । एता वै व्याहृतय इमे लोकाः ।

^५ शतपथ १४/४/३/२४ :

त्रयो वावलोकाः । मनुष्य लोकाः पितृलोको देवलोक इति ।

^६ विष्णुपुराण २/७/१९—२० :

त्रैलोक्यमेत्कृतकं मैत्रेय परिपद्यते ।

जनस्तपस्था सत्यमिति वाकृतकं त्रयम् ॥

कृतकाकृतयोर्मध्ये महलोक इति स्मृतः ।

शून्यो भवति कल्पान्ते योऽत्यन्तं न विनश्यति ॥

जैमिनीय ब्रा. १/३२४

अंश नहीं जा सकता । उससे अल्प व्याप्ति रखने वाला दूसरा परमेष्ठिमण्डल है। उसकी व्याप्ति में पांच लोक (भूः भुवः स्वः मह जन) आ जाते हैं। इसके अनन्तर तीसरा सूर्य मण्डल है, उसकी व्याप्ति में (भूः भुवः स्वः) तीन लोक हैं। चौथा चन्द्रमण्डल है, जिसका अधिष्ठान अन्तरिक्ष या भुवः है। इस लोक में हमारी पृथ्वी अन्तर्गत हो जाती है। इन्हीं ५ मण्डलों का एक ब्रह्माण्ड बनता है। अनन्त आकाश में ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हो सकते हैं।

रोदसी—क्रन्दसी—संयती :

म.म. पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेद के मतानुसार पृथ्वी, एवं सौर मण्डल के मध्यभाग को रोदसी, सौर और परमेष्ठी मण्डल के मध्यभाग को क्रन्दसी तथा परमेष्ठि एवं स्वमर मण्डल के मध्यवर्ती भाग को संयती कहा जाता है।^१ शतपथ ब्राह्मण में द्यावा पृथ्वी को रोदसी बताया गया है।^२ अमरकोश में भी इसे भूद्यावौ कहा गया है।^३ निघण्टु में रोदसी द्यावापृथ्वी के २४ नामों में पठित है।^४ यास्क ने रोदसी एवं रोधसी की निरुक्ति की है तथा इसको विरोधनात् पद से स्पष्ट किया है। तात्पर्य है कि द्यावा पृथ्वी में ही सब पदार्थ रुके पड़े हैं। इस कारण इसे रोदसी रोधती कहते हैं।^५ ऋग्वेद के एक मंत्र (२/१२/८) में क्रन्दसी एवं संयती दोनों पद विद्यमान हैं। आचार्य सायण^६ एवं वैकटमाधव^७ ने इसके अर्थ उक्त प्रकार से नहीं किये । अथर्ववेद के एक मंत्र (४/२/३) में क्रन्दसी एवं रोदसी पद प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ आचार्य सायण ने द्यावापृथिव्यौ ही किया है।^८ किन्तु वे इसका सूक्ष्म विभेद नहीं कर सके हैं। पं० गिरधर शर्मा जी का उक्त मत बहुत समीचीन है।

पृथ्वी नाम का कारण :

‘भू’ (होना) का सम्बन्ध भूमि से है। (स भूरिति व्याहरत स भूमिमस्रजतां)^९ अर्थात् जब तक होने (असृजन होने)की दशा रहती है तब तक उसे भूमि कहते हैं। इसके उपरान्त उसका प्रथन (विस्तार) होता है। उस अवस्था में उसे पृथ्वी कहा

^१ चतुर्वेदी : वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ. १०३

^२ वही, पृ. १०२

^३ शतपथ ६/४/४/२, इमे वै द्यावापृथ्वी रोदसी ।

^४ अमरकोश. ३/३/२२९ इमे वै द्यावापृथ्वी रोदसी।

^५ निघण्टु ३/३०

^६ निरुक्त : ६/१/३

^७ ऋग्वेद, २/१२/८, पर सायण भाष्य : इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौविरोधात् यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणं मानुषी देवी च द्वे सेनवा संयमी परस्परं संगच्छ त्यौ यमन्त्रिं विद्मयेते ।

^८ ऋग्वेद २/१२/८ पर वैकट माधव भाष्य— यं संक्रन्दमाने सेने मामागच्छ मामागच्छेत्याह्वदत इति ॥

^९ अथर्ववेद ४/२/३ सायण भाष्य :

क्रन्दसी क्रन्दन्ति क्रोशन्ति अनयोरश्रिता जना इति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ रोदसीरोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ ईदृश्या द्यावापृथिव्यौ आत्मरक्षणार्थं यं देवम् आह्वयेताम् ।

^{१०} तैत्तिरीय ब्रा. : २/२/४/२

जाता है। इस तथ्य को काठक संहिता में प्रकट किया गया है¹ अथर्ववेद के एक मंत्र (८/२/१४) में उर्वी एवं मही पद पृथ्वी के साथ आए हैं। इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने उर्वी का अर्थ विस्तीर्ण होने से एवं मही का अर्थ महान् विस्तीर्ण होने से किया है² यास्क ने पृथ्वी का निर्वचन करते हुए पहले शंका की है कि पृथ्वी को किसने फैलाया तथा उसका आधार क्या है? इसका उत्तर स्वयं ही दिया है कि चाहे दूसरों ने न फैलायी हो³ परन्तु देखने में वह फैली हुई है आचार्य मुद्गल ने ऋग्वेद १/५३/१३ के भाष्य में पृथिव्याः पद का अर्थ विस्तीर्णायाः भूमिः किया है।

अन्तरिक्ष नाम का कारण :

पृथिवी एवं घुलोक का मध्यवर्ती अन्तरिक्ष है। ऋग्वेद १/८९/१० के भाष्य में आचार्य मुद्गल ने अन्तरिक्ष को द्यावापृथिवी ही मध्य दीखने वाले व्योम को अन्तरिक्ष मानते हुए उसको अदिति कहा है⁴ आचार्य यास्क का मत है कि द्यावा पृथिवी ही मध्य में इसकी स्थिति है। इसकी निरुक्ति करते हुए वे कहते हैं कि यह शरीरों के मध्य में रहता हुआ भी अक्षय (अविनाशी) है। शरीरों के नष्ट होने पर भी उनके मध्य का अन्तरिक्ष नष्ट नहीं होगा।⁵ जैमिनीय ब्रा. में इसे द्यावापृथिवी के मध्य में होने के कारण ही अन्तरिक्ष कहा गया है⁶ यही आशय शतपथ ब्रा. का भी है।⁷ एक अन्य निरुक्ति है। अन्तः ऋक्षाणि अस्यवा इसके मध्य में नक्षत्र जगत् है। इसी कारण इसे अन्तरिक्ष कहते हैं। अमरकोश (१/३/२१) में नक्षत्रों के ६ नामों में ऋक्ष नाम भी पठित है। जैमिनीय उपनिषद् में इसके मध्य में समस्त तत्वों का निवास होने से इसे अन्तरिक्ष माना गया है।⁸

घौः नाम का कारण :

घुलोक तेजोमय है। ताण्डय महाब्राह्मण में इसे चमकते हुए के समान

¹ काठक संहिता, ८/२, आपो वा इदमासन् । सलिलमेव । स प्रजापतिर्वराहो भूत्वा उपन्यमंज्जत । तस्य यावन्मुखमासीत् तावती मृदमुपहरत् । सेयन् अभवत् । यद् अप्रथत तत् पृथिवी । यत् अभवत् तद्भूमिः ।

² अथर्व-यस्य देवस्य महित्वा महित्वेन माहात्म्येन द्यौ उर्वी विस्तीर्णा जाता । ऊरु शब्दाद् वोतो गुणवचनात् (पा. ४/१/१४) इति। पृथिवी च यस्य महिम्ना मही महती विस्तीर्णा जाता।

³ निरुक्त १/४/१४ पृथनात्पृथ्वी त्याहुः । क एवामप्रथयिष्यत् कियाधारयश्चेति ।

अथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः । अथाप्येवं सर्व एव दृष्टि प्रवउपालभ्यन्ते ।

⁴ ऋग्वेद, ११८९/१०, मुद्गलभाष्य : सैव द्यावापृथिवी व्योर्मध्ये ईक्षमाणं व्योम आदितिः ।

⁵ निरुक्त : २/३/१० अन्तरिक्षं कस्मात् ! अन्यक्षान्तं भवति, अन्तराहमे इति वा, शरीरेत्वं अक्षयमिति वा ।

⁶ जैमिनीय ब्राह्मण २/२४४ : अन्तरेव वा इदममुभयम् (द्यावापृथिवीश्च) अभूदिति । तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षं तम् ।

⁷ शतपथ ७/१/२/२३ : सह हैवे भावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोयोर्योऽन्तरेणाकाशः

आसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तर वा इदमीक्षमभूदितित स्मादन्तरिक्षम् ।

⁸ जै.उ. ब्रा. १/६/१/४ तद्यतस्मिन्निदं सर्वमन्तः तस्मादन्तरिक्षम् । अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत् तदन्तरिक्षमिति परोक्षामाचक्षते ।

संस्कृत की खगोल भौतिकीय अवधारणाएँ

बताया गया है।^१ जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में आकाश शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है कि उसमें उदय होने पर यह सब प्रकाशित होता है।^२ शतपथ ब्राह्मण में यह लिखा है कि जिस अण्ड से जगत् की उत्पत्ति हुई उसका कपाल (ऊपरी भाग) द्यौ बना।^३

पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यूलोक की सीमाएँ :

योगदर्शन (३/२६) के सूत्र 'भुवनज्ञानं सूर्य संयमना' के कारण भाष्य में ब्राह्माण्ड के सातों लोकों का वर्णन किया गया है। जहाँ तक मेरुपर्वत की चोटी है वहाँ तक भूलोक है तथा उससे आगे द्यूलोक है। वहीं संपूर्ण त्रिलोकी है।^४ विष्णु पुराण में पृथ्वी मण्डल की सीमा बताते हुए लिखा है कि जितनी दूरी तक सूर्य और चन्द्र की किरणों का प्रकाश जाता है। समुद्र नदी और पर्वत से युक्त उतना प्रदेश पृथ्वी कहलाता है। ज्योतिषग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में वर्णन है कि पृथ्वी से १२ योजन पर्यन्त भू मार्ग वायु है। जिसमें मेघ विद्युत आदि हैं। उसके ऊपर प्रवह वायु नित्य पश्चिम की ओर प्रवाहित मध्यगति से होती रही है।^५

५. सूर्य सिद्धान्त के भूगोलाध्याय में उल्लिखित है कि जिस प्रकार दो पहाड़ों को मिला देने से गोलाकार अवकाश युक्त संपुट बन जाता है उसी प्रकार यह ब्राह्माण्ड अवकाश युक्त गोल है और इसके मध्य में भूलोक भुवलोक और स्वर्लोक आदि समस्त जगत् स्थित है। उसी ब्राह्माण्ड की परिधि को आकाश की कक्षा भी कहते हैं, उसके भीतर नक्षत्र चक्र भ्रमण करता है। नक्षत्र चक्र के बीच क्रम से शनि, बृहस्पति, मंगल सूर्य, शुक्र बुध और चन्द्रमा पूर्वाभिमुख अपनी-अपनी गति से भ्रमण करते हैं और चन्द्रमा के नीचे सिद्ध विद्याधर और मेघ भ्रमण करते हैं।^६

वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार वायुमण्डल का विभाग :

विगत १५० वर्षों से वायु के सम्बन्ध में विज्ञान जगत् में अनुसंधान चल रहा है। वायु विज्ञान Aerology तथा मौसम विज्ञान को Meteorology

^१ ताण्ड. महा.ब्रा., २०/१४/२, अद्युतदिव वा अद इति तद्विवो दिवत्वम् ।

^२ जै.उ.ब्रा. १/२५/२, एतस्मिन् ह्युदिते सर्वमिदमाकाशते ।

^३ शतपथ ६/१/२/३, अथ यत् कपालमासीत् सा द्यौरभवत् ॥

^४ योगदर्शन ३/२६, पर व्यास भाष्य :

तत्रप्रस्तारः सप्तलोकाः । तत्राधीचे' प्रभृति मेरु पृष्ठं यावदित्येवं भूलोकः मेरुपृष्ठआदारम्य—आध्रुवाद ग्रहनक्षत्र ताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः कपरः स्वर्लोकः ।

^५ सिद्धान्त शिरो. गोलाध्याय : मध्यगति वासना—२ :

भूमेर्वह्निर्द्वादशयोजनानि भूवायुरात्राब्दविधुदधम् ।

तद्वर्ध्वगोपः प्रवहः स नित्य प्रत्यगतिस्तस्य तु मध्य संस्था ॥

^६ सूर्य सिद्धान्त भूगो. २९, ३०—३१ :

ब्रह्माण्ड में तत्सुषिरं तत्रेदं भूर्भुवादिकम् ।

कटाहद्वितस्यैव संपुटं गोलाकृतिः ॥

ब्रह्माण्ड मध्ये परिधिब्योमकाक्षाभिधीयते, तन्मध्ये भ्रमणं मानामधोषः क्रमशस्तथा मन्दाभरेज्य भूपुत्रसूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः, परिभ्रमन्त्यधोषस्थाः सिद्धाः विद्याधराधनाः ।

कहा जाता है। इसके अनुसंधान के अनुसार वायुमण्डल चार भागों में विभाजित किया गया है।

१. पृथ्वी तल से १२ Km की ऊँचाई तक के वायुमण्डलीय भाग को क्षोभमण्डल कहा जाता है। वायुमण्डलीय भागों में यह सबसे निचला भाग अधोमण्डल है। इस भाग में भारी क्षोभ (हलचल) व्याप्त है। आँधी मेघ विद्युत आदि क्रियाएँ ही क्षोभ मण्डल में हुआ करती हैं। इस कारण इस मण्डल में वायु के तापमान में भी भारी परिवर्तन हुआ करता है। यदि नीचे की ओर से ऊपर की ओर तापमान का परीक्षण किया जाय तो प्रति १६५ मीटर पर 0.1° C तापमान कम मिलेगा।
२. पृथ्वी तल से १२ Km से ३२ Km तक के भाग को समतापमण्डल Stratosphere कहते हैं। इसमें तापक्रमीय परिवर्तन नहीं हुआ करते। इसका कारण यह है कि इसमें निरन्तर संवहन धाराएँ गतिमान रहती हैं।
३. भूतल से ३२ से ४० Km तक के भाग को ओजोन मण्डल Ozoneosphere कहते हैं। इस स्तर में सूर्य की अत्यन्त उष्ण पगवेंगनी Ultraviolet किरणें शोषित होती हैं। इस कारण इस स्तर में ओजोन की प्रधानता है।
४. पृथ्वी तल से ४० Km से ऊपर के स्तर के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिल सकी है। इसे आयनमण्डल Ionosphere कहते हैं।

अन्तरिक्ष का विभाजन :

विष्णु. (२/८/८७/९४) मत्स्य ११२३/५१-६० एवं वायुपुराण ६/३४-५३, में आकाशमण्डल में मार्गों एवं वीथियों का वर्णन मिलता है। विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन ओझा ने भी इस विषय में अपने ग्रन्थ कादम्बिनी में विशद विवेचन किया है। उनके मतानुसार आचार्यों ने विषुवद् वृत्त के दक्षिण एवं उत्तर में १२८ तथा ४ अंशों के अन्तर से बने हुए ३-३ पूर्वापर वृत्तों के ४८ अंश वाले ३ मार्ग बनाये हैं इनके नाम हैं ऐरावत जरद्भव मार्ग, वैश्वानर मार्ग। प्रत्येक मार्ग में ३-३ वीथियाँ हैं। इन वीथियों में नक्षत्रों का विभाजित किया गया है जो निम्नवत् है।

१. ऐरावत मार्ग	१. नागवीथी	१. भरिणी
		२. कृत्तिका
		३. स्वाति
२. जरद्भव मार्ग	२. गजवीथी	१. रोहिणी
		२. मृगशिरा
		३. आद्रा
३. ऐरावतवीथी		१. पुनर्वसु
		२. पुष्य
		३. आश्लेषा
४. वैश्वानर मार्ग	१. वृषवीथी	१. मघा
		२. पूर्वाफाल्गुनी
		३. उत्तराफाल्गुनी

	२. गोवीथी	१. पूर्वाभाद्रपद २. उत्तराभाद्रपद ३. अश्वनी
	३. जरद्वगवीथी	१. श्रवण २. धनिष्ठा ३. शतभिषा
३. वैश्वानर मार्ग	१. मृगवीथी	१. अनुराधा २. ज्येष्ठा ३. मूल
	२. अजवीथी	१. हस्त २. चित्रा ३. विशाखा
	३. वैश्वानरवीथी	१. पूर्वाभाद्रपदा २. उत्तराभाद्रपद ३. रेवती

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार ग्रहों की सूर्य से दूरी :

आधुनिक खोजों के अनुसार सौर परिवार के समस्त ग्रह लगभग १२०० करोड़ KM के व्यास के घेरे में चारों ओर विद्यमान हैं। ग्रहों के क्रम से बुध शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि यूरेनस नेपचून तथा प्लूटो हैं—इनका व्यास तथा सूर्य से औसत दूरी निम्नवत् है:

ग्रह	व्यास KM	सूर्य से दूरी KM लाखों में
१. बुध	४३४७	५७९.२४
२. शुक्र	१२५५८	१०७८.०३
३. पृथ्वी	१२७६०	१४९६.३७
४. मंगल	७०१४	२२६८.६९
५. बृहस्पति	१४००७०	७७७१.४९
६. शनि	११४२३९	१३८५३.४९
७. यूरेनस	५५४९९	२८६७२.३२
८. नेपचून	६०७४०	४४९०७.१९
९. प्लूटो	५८७२	५९५३३.००

आदित्य (सूर्य) का वैदिक विज्ञान

सूर्य (आदित्य) में वायु, आपः और अग्नि का समावेश है। कपिष्ठल संहिता को वचन— 'समाने वै योनावास्तां सूर्याश्चाग्निश्च। ततः सूर्य ऊर्ध्व उद्भवत्।' स्पष्ट करता है कि सूर्य और अग्नि समान योनि में थे। वहाँ से सूर्य ऊपर उठा। अतः सूर्य में आग्नेय अंश पर्याप्त मात्रा में है। सूर्य के आग्नेय कण किस रूप में है।

आदित्य की सम्पूर्ण अस्मिता वायु कणों, दिव्य आपः और दिव्य अग्नि या विद्युत कणों के कारण है। अतः आदित्य में सम्पूर्ण प्राण ऋषि और पितर और देव निवास करते हैं। प्राण; ऋषि, पितर, देव, वायु और अग्नि के योग के परिणाम हैं। सूर्य (आदित्य) में अश्मा—पृश्नि का भी पर्याप्त योग है। आदित्य को अश्मा—पृश्नि कहा गया है। 'असौ वाऽआदित्याऽश्मापृश्निः ।।' यह अश्मा—पृश्नि एक अलग पदार्थ के रूप में भी अभिहित है। 'मध्ये दिवः निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रज सस्यात्वनतौ।' अश्मापृश्नि द्यु लोक के मध्य में स्थित है। ऋग्वेद के इस मंत्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण और मैत्रायणी संहिता में करते हुये कहा गया है कि यह अश्मापृश्नि दिव्य, विद्युतयुक्त और दो के मध्य में है।^१ आदित्य मण्डल विभिन्न रश्मियों के कारण चितकबरा है।^२ यहाँ ये तथ्य उल्लेखनीय हैं कि कपाल में लिप्त रस रश्मियाँ हैं। जिस प्रकार अन्तरिक्ष से वयाँसि और मरीचि अलग अस्तित्व रखती है वैसे ही रश्मियाँ भी सूर्य से अलग सत्तावान् है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में यही तथ्य भिन्न प्रकार से कहा गया है। वह प्रजापति की मूर्धा से आदित्य का जन्म मानता है। 'सोऽशोचत् तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत । सोऽस्य मूर्ध्नि मुदहन्।' यहाँ अशोचत क्रिया पद का कालेण्ड ने Languished अर्थ किया है। यह शोकार्थक बताया है। परन्तु शोचिः का अर्थ 'दीप्तिः' भी है। आदित्य में 'शुचिः' अग्नि की सत्ता है। अतः अशोयत् का अर्थ दीप्ति युक्त मानना प्रसंगानुकूल है। इसके समर्थन में ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ देखा जा सकता है। 'तस्य (प्रजापतेः) यद रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ।' पुरुषसूक्त में भी चक्षोः सूर्योऽजायत् ।' यहाँ उल्लेखनीय

^१ कपि. सं. ४/२, काठक संहिता ' ६/३

^२ शतपथ ब्राह्मण : ९/२/३/१४

^३ ऋग्वेद : ५/४७/३

^४ शतपथ ब्रा. : ९/२/१३/१२; मैत्रा. सं. ३/४/४ 'असुः पृश्नि । मध्ये दिव्यो निहितः पृश्निरभूमा । तथा ' रश्मिभिहि मण्डलं पृश्निः ।'

^५ मैत्रा. सं. २/२/११— 'बहूनि वै रश्मिनां रूपाणि ।'

^६ ताण्ड्य ब्राह्मण ६/५/१

^७ ऐतरेय ब्रा. : ३/३४

^८ ऋग्वेद : १०.९.१०

यह है कि चक्षु भी मूर्धा का ही एक भाग है। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि 'रश्मि— इत्येव—आदित्यम् असृजत ।' रश्मि कहकर ही आदित्य को उत्पन्न किया गया । इस प्रकार वायु, आपः और अग्नि के परमाणुओं का समावेश आदित्य में है। इसमें आपः का भागांश अधिक है।^१ इस मंत्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण आदि के वचन भी सहायक हैं।^२ अधिक स्पष्ट है कि सूर्य और आप घनिष्ठ हैं । सूर्य में आपः का योग है। आपः विविध गैस हो सकती हैं।

सूर्य में पार्थिवांश का अभाव है। वैदिक विज्ञान के अनुसार पृथ्वी अन्तरिक्ष तदनु सूर्य अस्तित्व में आया। इस तथ्य का समर्थन योरोप में किये गये सूर्य विषयक परीक्षण भी करते हैं।^३ उनके अनुसार पृथ्वी का घनत्व सूर्य से लगभग चार गुना अधिक है। यदि उदक के घनत्व को प्रमाण माना जाय तो सूर्य का घनत्व १.४ और पृथ्वी का घनत्व ५.५ है। स्पष्ट होता है कि सूर्य ठोस रूप में नहीं हो सकता। इसकी निर्माण सामग्री में घनत्व अति न्यून है। यह पाश्चात्य वैज्ञानिक अनुभव करते हैं कि सूर्य पूर्णतः गैस का गोला है।^४ इन गैसों की रचना वैदिक मनीषा के अनुसार आपः से होती है। ऋषि प्रज्ञा आपः से पूर्व की अवस्थाओं से भी परिचित थे।

संघात अथवा घनत्व पृथ्वी का गुण है। पार्थिव अंश के सूर्य में न होने से ही सूर्य का घनत्व पृथ्वी के घनत्व से कम है। महाभारत के शान्तिपर्व^५ में संघात का स्वरूप वर्णित है।

अग्निः पवनसंयुक्तः खात् समुत्क्षिपते जलम् ।

सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥

तस्या काशान्निपततः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः ।

स संघातत्त्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

इसके अनुसार पवन से युक्त होकर अग्नि आकाश से जल को उत्पन्न करता है। वह जल अग्नि और मारुत संयोग से घनत्व को प्राप्त होता है। उस आकाश से गिरते हुये जल में जो स्नेह रूपी गुण होता है वह संघात को प्राप्त होकर पृथ्वी भाव को प्राप्त होता है। सम्भवतः चतुर्थ सोलिडस्टेट^६ भौतिकी विज्ञान का यही सिद्धान्त है। महाभारत के अनुसार सूर्य का घनत्व अग्नि, पवन, और

^१ तैत्ति. सं. ५/३/६

^२ यजुर्वेद १३/३० : 'अपों गम्भन्सीद ।' अद्भुतसागर में सूर्यसिद्धान्त का वचन उद्धृत है। जो उपलब्ध सू.सि. में प्राप्त नहीं है।

^३ शतपथ ब्रा., ७/५/१/८, एतद् ह अपौ गम्भिष्ठं यत्रैव एतत् तपति । तथा जैमिनीय ब्राह्मण २/६२, 'अथ यद् एतन्मण्डलं ता आपः। तथा २/१८४, 'य ह वा रुत आदित्यस्य रश्मय एतानि ह वा एतस्य शृंगाणि । मध्य उ ह वा एष एतद् अपाम् । एतेरेय ब्राह्मण में महिदास का वचन ४/२० एष (आदित्यः) व अब्जा अदभ्यो वा एष प्रातरुदेति । आपः सायं प्रविशति ।' शतपथ ब्रा. १०/६/५/२ 'आपो वाऽअर्कः' ।

^४ Abetti : The Sun, Pg. 40

^५ वही, पृ. ३४२

^६ शान्तिपर्व १८०/१६, १८१/१५—१६ तथा वायु. पु. ८/१० 'शैत्याद् एकाण्वे तस्मिन् वायुना आपस्तु संहता ।' तथा ब्रह्माण्ड पु. पूर्व भाग २०/७/१०

जल के परस्परगुणप्रवेश के कारण है। जल का स्नेहांश ही सूर्य के घनत्व के कारण है। पार्थिव अंश नहीं ।

हमारा विनम्र मत इस सम्बन्ध में यह है कि घनत्व पृथ्वी का धर्म है। यदि पृथ्वी सूर्य से पृथक् होकर बनी होती तो पृथ्वी के मूल कारण सूर्य में भी उसी प्रकार का घनत्व या किंचित् न्यूनाधिक घनत्व अवश्य ही होता है। वैदिक विज्ञान के अनुसार पृथ्वी सूर्य से पूर्व ही बनी । पृथ्वी महदण्ड के निचले भाग से बनी अतः उसमें घनत्व अधिक है। पंचभूतिक रसायनिक प्रक्रिया को न. मानने के कारण पाश्चात्य विद्वान् भ्रामक परिणाम निकालते हैं। पंचभूतिक प्रक्रिया को मानने पर ही इलैक्ट्रॉनों में नैरेगिट व प्रोजीटिव विद्युत प्रभाव को समझा जास कता है। ऋणात्मक आपः परमाणु है और धनात्मक आग्नेय परमाणु है। वस्तुतः आपः के अनेक कण Negative है और उसके गर्भ में अग्नि का एक कण Positive है।^१ पाँच महाभूतों के मानने से ही मैटर और इनर्जी का भेद मिट कर भूत कर्मों का विज्ञान समझा जा सकता है। इनर्जी तो वायुभूत का कर्ममात्र है।^२

वायु ही Radiation (मोक्ष) का कारण है। शारीरिक रक्त चालन की भाँति ही सूर्य रश्मियों का जाल भी वायु के प्रभाव से संभव है। इस तथ्य को विना जाने Radiation (मोक्ष) का कारण नहीं जाना जा सकता । वायु भूत में भार नहीं है। आज का विद्वान् मैटर को भारयुक्त मानता है। उनके लिये वायु भूत सर्वथा नया तत्त्व है। वायु की शक्ति एवं माया को ही वे संभवतः इनर्जी मानते हैं। वस्तुतः इनर्जी वायु गुणों का प्रकाश मात्र है। इनर्जी और मैटर दो भिन्न पदार्थ नहीं । वायु के अणु सुप्तावस्था में Potential Energy और प्रबुद्ध अवस्था में वे ही Kinetic Energy के रूप में प्रकट हो जाते हैं।^३

सूर्य की उष्णता

असौ व आदित्यो अग्निः शुचिः^४ सूर्य में शुचि अग्नि है । शुचि अग्नि अन्तरिक्ष स्थित पावक (अग्निः) के मिलने से उत्पन्न हुआ। पावक अग्नि आपः से बना—आपो वै पावका । तथा आपो वा अग्निः पावकः ।^५ मत्स्य पुराण^६ इस तथ्य की व्याख्या करता हुआ कहता है कि सूर्य में तपने वाला शुचि अग्नि अपांगर्भ है। यही कारण है कि आपः के कणों को अपनी किरणों से पान करके (ऊपर खींच कर) सूर्य झुलोक में दीप्त है। शुचि अग्नि से सूर्य में उष्णता कैसे उत्पन्न होती है यह अनुसंधेय है। इस विषय में वैदिक मनीषा का निष्कर्ष निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है।

^१ द्रष्टव्य है — ऋ. १/७०/२ 'गर्भो यो अपाम् ।' (आपः का गर्भ अग्नि है) ।

^२ महाभारत शान्ति. अध्याय १६१ / ६ वलं शैथ्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टात्मता भवः ।

^३ तैत्ति. ब्रा. १/१/६/२

^४ वायु पु. ५३/५; २९३/३ 'सूर्य शुचिरग्निस्तु स स्मृतः । शतपथ ब्रा. २/२/१/८, वचन की व्याख्या में तथा वि.पु. १/१०/१६ की टीका में श्रीधर स्वामी—'यश्चासौ तपते सूर्यं शुचिरग्निरसौ स्मृतः ।

^५ कपिष्ठल संहिता : ७/३, तैत्ति० ब्रा० १/१/६/२

^६ मत्स्य पु. १२८/७—९

शुचि अग्नि जो सूर्य में है तेजपुंज है। 'असौ वा आदित्यः शुचिः । एषः तेजसः प्रदाता। यदग्नये शुचयेऽसावेवास्मा आदित्यस्तेजः प्रयच्छति।' इस संहितावचन से ज्ञाता होता है कि शुचिः अग्नि ही आदित्य को तेज देता है। शुचि अग्नि में पार्थिव अग्नि अनुप्रविष्ट होती है। वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि सूर्य तपता है। सूर्य से उष्मा प्रवाहित होती है।^१ ब्रह्माण्ड पुराण^२ के अनुसार पृथ्वीवासी सूर्य का ताप जिस प्रकार अनुभव करते हैं के विषय में लिखता है कि—

उद्यन्तं च पुनः सूर्यम औष्ण्यम् आग्नेयम् आविशत् । १७॥

यश्चा'सौ तपते सूर्यं पिवन अभो गभस्तिभिः पार्थिवाग्नि
विमिश्रोऽसौ दिव्य शुचिरिति स्मृतः । २३ ॥

उदिते हि पुनः सूर्ये ह्यौष्ण्यभाग्नेयमाविशेत् । संयुक्तौ वह्नि
सूर्यः तपते तु ततो दिवा ॥

पार्थिव अग्नि के परमाणु आपः के साथ सूर्य रश्मियों द्वारा सूर्य मण्डल की शुचि अग्नि के साथ मिश्रित होते हैं। उदय होते सूर्य में आग्नेय उष्णता प्रविष्ट होती है। पार्थिव अग्नि की उष्णता सूर्य—रश्मियों में ताप पैदा करती है। अग्नि (वह्नि) से संयुक्त सूर्य दिन में तपता है। इस सिद्धान्त के साथ सूर्य पृथ्वी के भ्रमण विधि का भी सम्बन्ध है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य की ताप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि सूर्य मण्डल अधिकांश में हाइड्रोजन से युक्त है। सूर्य का द्रव्य समूह पानी के घनत्व से लगभग $1\frac{1}{2}$ गुना है। इस घनत्व की हाइड्रोजन गैस का ताप ३० लाख डिग्री होना चाहिये ।

सूर्य—मण्डल :

वैदिक साहित्य^३ में सूर्य मण्डल की व्याख्या हेतु अनेक वचन प्राप्त होते हैं। सूर्य भा (प्रकाश) है। वह संवत्सर है। वह तपता है। उसका जो बाह्य भाग चमकता है संवत् है। जो मध्य में कृष्ण मण्डल है वह सरः है। रश्मियाँ सूर्य का अंग है। दिन रात भी सूर्य के कारण ही हैं। सूर्य के मध्य में कृष्ण मण्डल है। स्पष्ट है कि सूर्य का मध्य; बाह्य घेरे से भिन्न है। उस घेरे में चमक है। यही दिन एवं अन्दर का कृष्ण भाग रात्रि है। बाहर के घेरे में वैश्वानर अग्नि के परमाणुओं की माया है और आन्तरिक सूर्य की संरचना आपः परमाणुओं से है। संभवतः आपः और आग्नेय परमाणुओं का परस्पर अनुप्रवेश होता है। इस सम्बन्ध में गोपथ ब्राह्मण^४ उत्तर भाग का वचन भी उल्लेखनीय है कि तपनशील सूर्य के दो भाग

^१ कपिष्ठल सं. ७/३, ७/५

^२ कौषीतकी ब्रा. ७/८, ब्रह्माण्ड पु. २४/११; २२/२० 'सूर्याद् उष्णं निस्सवते ।

^३ ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्व भाग २४/१७, २३ तथा द्रष्टव्य २१/५७ तथा विष्णु पु. २/८/२१—२५

^४ जैमिनीय ब्राह्मण : १/३३०, असौ वा आदित्यो भा इति ।' तथा २/२८, 'आसावेव संवत्सरो योऽसौ तपति । तस्य यद् भाति तत्संवत् । यन्मध्ये कृष्णं तत्सरः, इति आधिदैवतम् । तथा २/६०, ६२

^५ गोपथ ब्राह्मण : ६/६.....तेज, एव मण्डलं भा'। । अपरं शुक्लमपरं कृष्णम् । तस्माद् द्वि—उक्थः । तद् यद् एकैकस्य रश्मे द्वौ वर्णौ भवतः । तस्माद् द्वि'सूक्ताः।'।

हैं। तेज का मण्डल भा है। उसकी हरेक रश्मि के दो दो वर्ण हैं। पूर्व कथन के सन्दर्भ में कि अग्नि का शुक्ल वर्ण है और आपः का कृष्ण : शतपथ ब्राह्मण^१ के अनुसार नेत्रों के वर्णों के समान ही आदित्य के वर्ण भी हैं। आदित्य का कृष्ण भाग सौम्य आपः विषयक होने से है तथा बाह्य घेरा आग्नेय । छान्दोग्य उपनिषद्^२ भी प्रकारान्तर से यही कहता है कि आदित्य का मध्य कृष्ण भाग अन्न का स्थान है। अन्न आपः से उत्पन्न होता है। 'अन्नाद् अग्निः।' अन्न अग्नि का भोजन है। यही उपनिषद् कहती है कि 'एतद् आदित्यमध्ये क्षोभत् इव ॥'^३ आदित्य के मध्य क्षोभ के समान क्रिया होती रहती है। वायु और दिव्य आपः (विद्युत युक्त) के योग से सूर्य में मायावी कर्म सम्पन्न होता है। यही सूर्य की इनर्जी का कारण है। इन्द्र, मित्र आदि देवता प्राण हैं। वे सूर्य में निवास करते हैं। यह उनका आयतन है। उसी में अमृत (दिव्य आपः) है जिससे देवता तृप्त रहते हैं। इस अमृत के सम्पर्क से ही उनमें तेज आ जाता है। वैदिक साहित्य ऐसे अनेक रहस्यों से भरा पड़ा है। उन पर अनुसंधान की आवश्यकता है।

छान्दोग्योपनिषद् विषयक सूर्य के मध्य होने वाली क्षोभ प्रक्रिया के सम्बन्ध में इसी से मिलता जुलता विचार पाश्चात्य विद्वान डब्ल्यू. एम. मैक क्रैआ का है।^४ उन्होंने क्षोभ के लिए 'Agitation' शब्द का उचित प्रयोग किया है। उनके अनुसार भी सूर्य के दो क्षेत्र हैं। केन्द्रिय और शेष सूर्य का गर्भ क्षेत्र । केन्द्रिय क्षेत्र का ताप २०० लाख डिग्री है। दोनों क्षेत्र एक पतली तह में एक दूसरे से घुले मिले हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार सूर्यान्तर्गत प्राप्त तत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। सूर्य मण्डल में ८० प्रतिशत हाइड्रोजन, २० प्रतिशत हीलियम है। भारयुक्त तत्व लगभग १% वैज्ञानिक मानते हैं। कुछ शतप्रतिशत हाइड्रोजन और एक प्रतिशत हीलियम तथा भारयुक्त अन्य तत्व १ प्रतिशत से भी कम मानते हैं। हाइड्रोजन आपः का ही एक रूपान्तर है। अतः वैज्ञानिकों के मत से वैदिक प्रज्ञा मिलती है कि सूर्य में आपः कर्म विचिकित्सा है। उसमें सब प्राणों (देवों) का वास है। प्राणों में भार नहीं होता।^५

^१ शतपथ ब्रा. १/६/३/४१ यच्छुक्लं तदाग्नेयं यत्कृष्णं तत्सौम्यम् ॥ तुलना करें ब्रह्माण्ड पु. २४/९३ तथा छान्दो. उप. ६/४२ यत्-शुक्लं तदपाम् । यत्कृष्णं तदन्नस्य ।

^२ छान्दो. उप. ६/२/४

^३ छान्दो. उप. ३/१-५, तथा पृ. १०५

^४ Physics of the Sun and Stars. Pg. 43, London 1950- "Atomic collision : So far we have only considered transitions produced by or producing radiation . The only other way they could be caused is by the direct action of matter upon the system performing the radiations. In a gas, the atoms , ions and any other particles present are always in a state of thermal agitation as a result of which they are continually colliding with each other. The collisions are the only direct interaction with other matter experienced by the particles.

^५ जैमि. ब्रा. २/६०

सूर्य और भूमि की समीपता :

कभी सूर्य और पृथ्वी समीप भी थे। आज सूर्य पृथ्वी से अनन्त दूरी पर स्थित है। महान वैज्ञानिक वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने बताया है कि यह एक विचित्र अवस्था थी जब पृथ्वी और सूर्य में पर्याप्त समीपता थी। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण^१ में कहा गया है कि, 'उन्मृश्या हैव घौरसा।' हाथ उठाकर स्पर्श कर सकने की दूरी द्यौ की थी। जब अन्तरिक्ष भी विस्तृत नहीं हुआ था। पृथ्वी का निर्माण हो चुका था। आन्तरिक्ष अत्यन्त संकुचित स्थिति में था तब सूर्य बना। वह भूमि पर से स्पर्श हो सकने के समान था। तदनु 'अग्न आयाहि वीतये।' अन्तरिक्ष में स्थित वायु और इस अग्नि के योग से वायु पूर्ण बल से फैला। उसी के कारण ह्युः आदि लोक अलग-अलग हुये। 'आदित्य इस (पृथ्वी) लोक में था।' जैमिनीय ब्राह्मण^२ में कहा गया है कि आदित्य निश्चित ही यहाँ पहले था, वह इस सबको बहुत ही तपाता था। देव प्रदाह से डरे। निश्चित ही यह सबको जला देगा। इन दोनों का स्थान बदल दें। अग्नि और सूर्य का कथित स्थान परिवर्तन प्रदाह से बचने का उपाय बना। यह ठीक प्रतीत होता है कि अग्नि पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ। इससे पूर्व पृथ्वी पर अग्नि का आधान नहीं था। पूर्व कथित वचनों से स्पष्ट है कि पृथ्वी और सूर्य पास पास थे। उस समय पृथ्वी में अग्नि नहीं था। सूर्य द्वारा यह तपाई तो जाती थी तथापि वह अग्निगर्भा नहीं थी। स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि पृथ्वी जब अग्निहीन थी और आदित्य भी उत्पन्न नहीं हुआ था तब पृथ्वी का ताप कितना था। पृथ्वी का आकार कितना था। यह स्थिति वराह द्वारा पृथ्वी उद्धार की घटना से पूर्व की थी अथवा पश्चात् की है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। मैत्रायणी संहिता उपर्युक्त जैमिनीय ब्राह्मण के कथन का समर्थन करता है।^३ आदित्य को यहाँ से उस लोक में ऊपर ले गये इस दूर गमन के कारण ही अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। इसी से दिशायेँ भी स्थिर हुई। अन्ततः इसी से लोकों का भी स्तम्भन हुआ।

सूर्य-रश्मि क्रिया :

सूर्य ही नहीं चन्द्र एवं सूर्य से उत्पन्न ग्रहों और नक्षत्रों की भी रश्मियाँ हैं। मरुत रश्मियों के लिये वेदों में 'अभीशवः' शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है।^४ पृथ्वी लोक पर मास भेद भी रश्मियों का परिणाम है। जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है— "मासा रश्मयः। रश्मयो मरुतः। तैरसावादित्यो धृतः।" रश्मियों से

^१ शतपथ माध्य. १/४/१/२२

^२ ऋग्वेद : ६/१६/१०

^३ तैत्ति.सं. : ३/४/३ 'इमे वै सहास्तां ते वायुर्व्यवात् ।। ५/१/५; ७/३/१० 'असावादित्यो ऽस्मिन् लोके आसीत् । तं देवाः पृष्टैः परिग्रह्य सुवर्गं लोकं अगमयत्।'

^४ जैमिनीय ब्राह्मण :

आदित्यो वा एतद् अत्राग्न आसीत् यत्रैतत् चात्वालम् अवे अग्निः ।

सः इदं सर्वं प्रातपत् । तस्य देवाः प्रदाहात् अविभ्युः । वीमौ परिहृयमेति॥

^५ मैत्रायणी सं. १/११/७

^६ ऋग्वेद : ३/३८/१२, ५/६१/२

^७ जैमिनीय ब्रा. १/१३७

आदित्य धृत है। यजुर्वेद ने सभी रश्मियों में सूर्यरश्मियों को श्रेष्ठतम् माना है। 'स्वयंभूर सि श्रेष्ठो रश्मिः'।^१ वैदिक ग्रन्थों ने बहुरूपा रश्मियों का वर्णन किया है। उसके अंशु आदि नाम उनकी विविता के वाचक हैं। अंशुश्च में रश्मिश्च मे।^२ इस वचन में अंशु और रश्मि दो भिन्न पद हैं। इनके अर्थ में सूक्ष्म भेद है। निघण्टु में रश्मि नामों के १५ पद पढ़े गये हैं। वे विचित्र प्रकार की रश्मियों के नाम हैं। मैत्रायणी संहिता भी रश्मियों के बहुत रूप मानती है।^३ वनम् नायक रश्मि अकेली चलने वाली रश्मि है। जब कि शेष यास्क द्वारा पठित १४ रश्मियाँ बहुवचन में कही गयीं हैं। स्पष्ट है कि रश्मियाँ समूह में चलती हैं।

शुचि अग्नि के भेदों से रश्मियों में पर्याप्त भेद हैं। विष्णु पुराण^४ ने शुचि अग्नि के १५ भेद कहे हैं। संभव है उन १५ भेदों से रश्मियों के १५ भेदों का कोई सम्बन्ध हो। ब्रह्माण्ड पुराण^५ में भी शुचि अग्नि के १४ भेद प्राप्त हैं। ऋग्वेद के इन्द्रपरक मंत्र में आदित्य रश्मियों की संख्या एक सहस्र कही गई है। 'युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश'।^६ इसी प्रकार के भेदों से अग्नि भी सहस्राक्ष हुआ। 'अग्ने सहस्राक्ष'।^७ हमारा निष्कर्ष है कि संभवतः विभिन्न परमाणु संसर्ग से ये भेद हुये। स्वरूप भिन्नता से रश्मियों के छन्दों में भी भेद पड़े हैं। वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण तथा मत्स्य पुराण में इन सहस्र रश्मियों के तीन मुख्य भेद प्राप्त होते हैं।^८ इन पुराणों के मतानुसार सूर्य की सहस्ररश्मियाँ तीन प्रकार की हैं। ये वर्षा, शीत और उष्णता निकालती हैं। इन्हीं रश्मियों से वर्षा आदि की संक्रियाएँ घटित होती हैं। ये चार सौ रश्मियों चित्रमूर्तयः हैं। वेदों में इन चित्रमूर्तियों के नाम खोजने पर मिल सकते हैं। मैत्रायणी संहिता में इस तथ्य का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख प्राप्त होता है। 'तां सूर्यो रश्मिभिवर्षति।' ये सभी वृष्टि सर्जना नाडियाँ अमृता नाम वाली हैं। संभवतः सूर्य में स्थित अमृत नामक आपः परमाणुओं का इसमें सहयोग हो। 'अमृतं ह्यापः।'।^९ इसी प्रकार के ऋग्वेद आदि में प्राप्त निम्न मंत्र हमारे मन्तव्य का पोषण करते हैं।

१. आणिं न रथ्यम् अमृता अधि तस्थु । ऋ. १/३५/६,

२. अप्सु अन्तः अमृतम् । ऋ. १/२३/१९,

३. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् । ऋ. १/१६४/२१, निरुक्त ३/१२

४. यत्रा चक्रुः अमृता गातुमस्यै । ऋ. ७/६३/५,

^१ यजुर्वेद २/२६ तथा शतपथ ब्रा. १/१/३/१६ एष वै श्रेष्ठो रश्मिः यत्सूर्यः ।

^२ तैत्तिरीय संहिता : ४/७/७

^३ मैत्रायणी सं. २/२/२१ बहूनि वै रश्मीनां रूपाणि । निघण्टु : १/५

^४ विष्णु पु. १/१०/१४

^५ ब्रह्माण्ड पुराण १/२३८-४४ एवं शतपथ ब्रा. २/५/१/४ तथा ६/७/३/७

^६ ऋग्वेद : ६/४७/१८, महाभारत शान्ति. ३७२/३ 'यस्य रश्मिमसहस्रेषु । तथा जैमिनीय उपनिषद् , १/४४/५, 'सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः ।

^७ कपिष्ठल सं. २८/४, ऋग्वेद १/८०/१२

^८ वायु. ५३/१९/२३, ब्रह्माण्ड. पूर्व. २४/२६-३०, मत्स्य. १२८/१८-२२

^९ मैत्रायणी सं. २/४८, शतपथ ब्रा. ३/९/४/१६; महाभारत शान्ति. ३३६/६९-७१

५. अथ यदेतन्मण्डलं ता आपः । तदन्तम् । तदमृतम् ।
जैमि. ब्रा. २/६२,

वेदों में सूर्य के तीन रूप मिलते हैं। 'त्रिनाभि चक्रम् अजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः'।^१ इस मंत्र का अर्थ यास्क ने करते हुये कहा है—त्रिनाभि चक्रम्। त्रिऋतु संवत्सरः। ग्रीष्मो, वर्षा हेमन्त इति। आशय यह है कि तीन वलय वाले, चक्र (सूर्य) अजर तथा अशिथिल हैं। यास्क का मत है कि तीन ऋतुयें इन्हीं वलयों के कारण होती हैं। सूर्य में ही हेमन्त का हिम स्थान भी है। हिम स्रजन हेतु ३०० रश्मियों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे हिमोद्गता, हिमवाध, हिमोद्भवा। हिम स्रजन करने वाली रश्मियों में एक सुषुम्णा रश्मि है; जो चन्द्र के प्रति अपना चमत्कार प्रदर्शित करती है। इन रश्मियों को 'दृश्या' बताया गया है। हिम सर्जक रश्मियों दृश्य हैं शेष अदृश्य हैं। इनको मेघ्या, कहा गया है। 'मेघ्या वाऽएता आपो भवन्ति या आतपति वर्षन्ति। शत. ब्रा. ५/३/४/१३

हिम सर्जन रश्मियाँ चन्द्रा नाम वाली यजुर्वेद में उल्लिखित हैं।^२ सूर्य की ऐसी ही अन्य किरणों में पीताभा या मिताभा नाम की किरणें भी हैं। वैदिक ऋषियों का रश्मियों की आत्मा एवं उनके परिणाम भी ज्ञात थे।

पृथ्वी पर अनेक बार हिमयुग आ चुके हैं। त्रेता से पहले भी हिम युग था ऐसा आभास होता है। इस सम्बन्ध में इम्मैनूएल वेली कोक्सकी ने अपनी पुस्तक में, हिम युगों का मूल कारण भी इसी प्रकार का बताया है।^३ वैदिक मनीषा हिम सर्जना रश्मियों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करती है। वायुपुराण 'शैत्यमप्सु' शैत्य आपः परमाणुओं का यह स्वाभाविक गुण मानता है।^४ जब जब सूर्य स्थित अमृतमय आपः परमाणुओं से आग्नेय सम्बन्ध अलग होता है अथवा न्यून होता है। शीत का प्रभाव न्यूनाधिक रूप में इन्हीं परमाणुओं से होता है। एतदर्थ आपः महाभूत की क्रियायें जाननी होंगी अन्यथा शीत तरंगों का विज्ञान समझना आसान नहीं होगा। इसी प्रकार सीकर मुंचन अथवा नीहार का भी सम्बन्ध शीत तरंगों से है। नीहार उत्पन्न होने में ब्रह्माण्ड पुराण का कथन है कि तुषार वृष्टि का कारण आकाश गंगा का जल है।^५

सूर्य उत्तरायण और दक्षिणायन होने के कारण शीत और उष्णता छोड़ता है। इसी प्रकार सूर्य की ३०० धर्मसर्जना रश्मियाँ भी होती हैं। ये वैश्वानर अग्नि के योग से उष्णता पैदा करती है इन्हें शुक्रा या शुक्ला कहा गया है। ये गावः रश्मियाँ कुहका या ककुमः भी कही गयी हैं।^६ ये गावः रश्मियाँ विश्व का पालन करती हैं। धर्म (Heat) की सारी देन इन्हीं की है। इन्हें गोमातरः, पृश्निमातरः

^१ ऋग्वेद १/१६४/२, निरुक्त ४/२७, महाभारत शान्ति. ३७२/१, रथमेकचक्रम्।

^२ यजुर्वेद, १२/१०२, याश्चापश्चन्द्रा प्रथमो जनान। तथा तैत्ति. ब्रा. १/७/६/३, चन्द्रा ह्यापः।

^३ Worlds in Collision, P. 33, 35

^४ वायु पुराण : २४/१५२

^५ ब्रह्माण्ड पुराण : पूर्व भाग २२/४९-५१

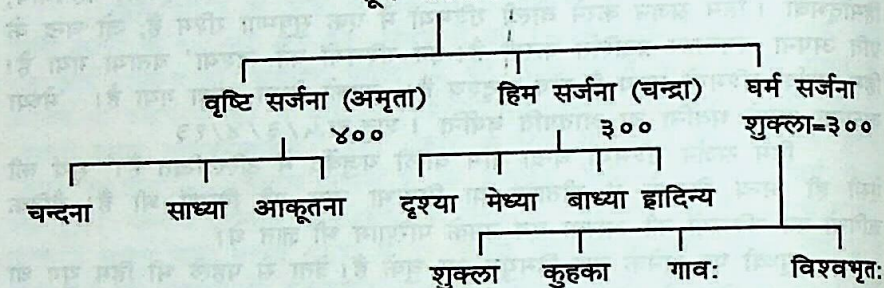
^६ ऋग्वेद : ९/९७/३५, निरुक्त १४/१५

भी कहा गया है^१ निरुक्तकार ने आदित्य को ही गो बताया है । आदित्योऽपि गौरुच्यते।^२ इन्हीं गावः रश्मियों के कारण सूर्य को गोजाः कहा गया है।

सूर्य की किरणें किस दू तक जाती है । यह तो निश्चित है कि ब्रुलोक अनेक हैं और उनकी सीमाएँ भी हैं । ये दैवी सीमाएँ ही लोक लोकान्तरों का स्तम्भन करती है। जगत् को आइन—स्टाइन की भाँति परिधि रहित मानना उचित नहीं होगा ।

सहस्र सूर्य रश्मियों को निम्नवत् वर्गीकृत किया जा सकता है।

सूर्य सहस्ररश्मि



शतपथ ब्राह्मण में रश्मियों को शतविधा भी कहा गया है।^३

सूर्य की प्रधान सात रश्मियाँ :

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का १२वां सूक्त ऐन्द्र सूक्त है। इसके १२वें मंत्र में इन्द्र की सात रश्मियाँ बताई गई हैं । तैत्तिरीय आरण्यक^४ में इन्हें 'वरहव, स्वतपसः विद्युन्महस आदि कहा गया है। ये ऐन्द्री रश्मियाँ मरुतों से भी सम्बन्धित हो जाती हैं । इन्द्र की सात रश्मियों की भाँति सूर्य की भी सात रंगवाली सात रश्मियाँ हैं। इनसे ही ग्रहों की उत्पत्ति बताई गई है।^५ 'सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः ।' इन प्रधान सात रश्मियों के नाम क्रमशः सुषुम्णाः, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वश्रवा, संपद्सु, अर्वावसु, स्वराष ८ हैं।^६ इनके अतिरिक्त अन्य रश्मियों में वृष्टिवनि, मरीचिपा, सुरुचः, अमा, हंसा, ऋभवः सुपर्णा, हरित, शुचि, किरण, शिपय, केशी—केशा, पशु और सुकृतः नाम रश्मियाँ भी सूर्य की

^१ ऋग्वेद माधव भाष्य : १/८५/२

^२ निरुक्त : २/६ तथा ऐत. ब्रा., ४/२०, गावो वा आदित्याः ।

^३ शतपथ ब्राह्मण : १०/२/४/३, " स एष एक शतविधः । तस्य रश्मयः शतं विधा । एष एव एक शततमो य एष तपति ।

^४ तैत्ति. आरण्यक : १/९/४-५

^५ वायु पु. ५३/४४

^६ ऋ. १०/१३९/१, कौषीतकी ब्रा. ५/५; शतपथ., ८/६/१/१६, मैत्रा. सं., २/८/१०, तैत्ति. सं., ४/४/३; ब्रह्माण्ड पु. २४/६५/६१; १२/२४; तैत्ति. ब्रा. ३/३/३/७; यजुर्वेद, १३/५६; शतपथ. ८/११२/१; स्कन्द ऋग्वेद १/१०४/९, शतपथ., ८/१६/१/२०; १/५/१/२४

है।^१ आदित्य की इन किरणों ने पृथ्वी तक एक जाल बनाया हुआ है।^२

प्रलय कालीन सात सूर्य :

सूर्य त्वक् रश्मियों का संघात है। प्रलय काल में कुछ घटना ऐसी होती है कि ये रश्मियाँ अलग-अलग संघात बनकर सात सूर्यों का रूप धारण कर लेती है।^३ विष्णु पुराण के अनुसार 'त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः। श्रीधर स्वामी ने इस की टीका में लिखा है कि इन सात सूर्यों के नाम क्रमशः सप्तरश्मयः, भास्कराः सप्त । अरोगः, भ्राजः पटलः, पतंगः स्वर्णरोमा, ज्योतिष्मान, विभावसुः हैं।

इस प्रकार आदित्य और रश्मियों का नित्य सम्बन्ध है।^४

सहस्र किरण उत्पत्ति का कारण :

एक रश्मि दिवाकर सहस्र किरणों वाला कैसे बन गया इसका रोचक वर्णन महाभारत^५ के शान्तिपर्व में मिलता है।

यस्मिन् परिप्लवा दिव्या भवन्त्यापो विहायसा ।

पुण्यं चाकाश गंगाया स्त्रोयं विष्टम्य तिष्ठति ॥

दूरातं प्रतिहतो यस्मिन् एकरश्मिर्दिवाकरः ।

योनिर् अंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥

यस्मादाप्यायते सोमो योनिर्दिव्योऽमृतस्य यः ।

षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जतांवर ॥

वायु के षष्ठ मार्ग परिवह वात स्कन्ध में ये समस्त क्रियाएँ सम्पन्न होती है। शतपथ ब्राह्मण आपः को दिव्य आकाश मानता है। 'आपो वै दिव्यं नभः।^६ साधारण आपः कण; चंचल और दिव्य (विद्युत प्रभाव युक्त) आकाश की वैद्युत अग्नि द्वारा हो जाते हैं। आकाश गंगा का जल उसी क्षेत्र में स्तम्भित हो जाता है। परिवह मार्ग से आदित्य तक मरुत तरंगों की चोटे पहुँचती है। विभिन्न इन छन्दों वाली चोटों से इन्हीं के संपीड़न (Pressure) के कारण एक रश्मि सूर्य सहस्ररश्मि हो जाता है। यह घटना तभी घटती है जब पार्थिव पवन और अग्नि (पावक) की अन्योऽन्य प्रवेशन क्रिया होती है तब पृथ्वी प्रकाशमान होती है। परिवह वातस्कन्ध के कारण ही चन्द्रमा में वृद्धि होती है। इसी वैद्युत प्रभाव से

^१ दृष्टव्य : जैमिनी ब्रा. २/२६६; ऐत.ब्रा. ४/१७; ताण्ड्य ब्रा. २५/१५/४; यजुर्वेद : १३/३; शतपथ. ४/२/१/२१; तैत्ति.सं. २/४/१० ६/४/५/ अथर्व. ४/१/१; निरुक्त, १/७ शतपथ ब्रा. ७/४/१/१४; यजु. १२/२२-२३; १३/३९; विष्णु पु. २/१२, ऋग्वेद ४/४०/५, निरुक्त १४/३१; ऐत.ब्रा.४/२०, शतपथ ६/७/३/१९, निरुक्त, ११/१६; ऋ. १०/७३/११; १/१६४/२१; निरुक्त ४/३; ३/२१; ऋ. १/१०४/११, १/११४/४; स्कन्द ऋग्भाष्य भा. १/५०/८; शान्ति पर्व. ३७२/८; यजु. ५/७; निरुक्त १२/२५; कपिष्ठ.सं. ४०/५/४४/६; शतपथ १/९/३/१०

^२ शान्ति पर्व. २३५/१४; ब्रह्माण्ड पु. २२/१३; (पूर्व.) मैत्रा. सं. ४/३/४

^३ ब्रह्माण्ड पु.पु. ५/१२३-२४/१३०

^४ महाभारत शान्ति. ३०४/४३ तथा ३११/२०

^५ शान्ति पर्व : ६९-७१

^६ शतपथ : ३/५/८/३

दिव्य अमृत का सृजन होता है। यह दिव्य अमृत सूर्य के मध्य ठहरता है। यह वैज्ञानिक ऋषि प्रज्ञा साक्षात् कृत धर्मी ऋषियों की ही सामर्थ्य हो सकती हैं।

सूर्य और प्रकाश के विषय में विज्ञान^१ का मानना है कि सूर्य ताप और प्रकाश के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो सूर्य में कुछ 'गिरना' अथवा सूर्य में ज्वलन धर्मिता का होना। इस विषय में भारतीय मनीषी व्यास का मत अधिक स्पष्ट है कि आकाश का दिव्य वैद्युत प्रभाव मरुतों की सूर्य पर पहुँची चोटें, चोटों से संपीडन और अन्योन्य प्रवेश के कारण सूर्य रश्मियाँ ताप और प्रकाश का व्यवहार संपादित करती हैं। रश्मि रूप देव चक्र तो नित्य है किन्तु उसमें ह्रास और वृद्धि होती रहती है। विष्णु पुराण का मत है कि वीथियों के आश्रय पर नक्षत्र है। इनका आधार वेगवान भुव पर है। उस भुव का ह्रास और वृद्धि क्रम वैसे ही घटित होता है जैसा सूर्य-रश्मियों का। स्पष्ट होता है कि उषा काल से पहले द्यौ (अन्तरिक्ष से ऊपर) अंधकार युक्त होता है। पृथ्वी पर तो अंधकार हो सकता है परन्तु द्यौ के अन्धकार का कारण है कि द्यौ में भी तम भाव है।^२ द्यौ सदा ही प्रकाश युक्त नहीं होता। यों तो ज्योति, प्रकाशन और ताप आदि अग्नि के अपने गुण हैं।^३ परन्तु सूर्य के शुचिः अग्नि में आपः ही उस दीप्ति का कारण है। आपः अर्थात् मूल उदक (Concept of water)। आद्रता जो अदृश्य भी है से ही सूर्य तेज युक्त होता है और ताप का स्रजन होता है।^४ सूर्य के अति ताप का कारण एक उदक है जो सूर्य में स्थित है। उदक का यह अति तपन मरुतों के कारण प्रतीत होता है। जैमिनीय ब्राह्मण ने सूर्य के अति ताप का कारण सूर्य में देव वास कहा है।^५ इस सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता का प्रवचन है कि 'ते (देवाः) वा अमुष्यिन्नादित्ये प्रियास्तन्वः संन्यदद्यत तस्मादेव तेजिष्ठं तपति।'^६

रश्मियों का भौतिक स्वरूप :

आदित्य रश्मियों; वायु, अग्नि और आपः का परिणाम है। ये वायु आदि भूत तत्त्व है। अतः रश्मि की भौतिक तत्त्व हैं। ताप और प्रकाश भी भौतिक (Material) हैं। इनका रहस्य रश्मियों और पार्थिव तथा अन्तरिक्ष में स्थित अग्नि के परस्पर प्रवेश करने के परिणाम स्वरूप उद्घाटित किया जा चुका है। ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्द स्वामी का मत है कि, 'अदृश्य आदित्यश्च रश्मयश्च अग्निप्रसादेन केतुं प्रज्ञानं प्रकाशरूपतां लब्धवत् इत्यर्थः।'^७ दिन, सूर्य और रश्मियाँ अग्नि के सहयोग से प्रकाशत्व को ग्रहण करती है। यहाँ जो परस्पर अनुप्रवेशन का सिद्धान्त काम करता है उसके सम्बन्ध में वायु पुराण^८ के प्रश्न कि

^१ Physics of the Sun and Stras, P. 90-91 and 100

^२ निरुक्त—यदा द्यौ अपहृत—तमस्का कीर्णरश्मि भवति । १२/१३

^३ महाभारत शान्ति. २६१/६; 'अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।

^४ वायुपुराण : १००/१३८—१९२

^५ जैमिनीय ब्राह्मण : २/६०

^६ मैत्रायणी सं. १/१६४/१२

^७ ऋग्वेद : १/७१/२ मंत्र का भाष्य

^८ वायु पुराण : ५०/११३—११४

क्या पवमान अथवा पावक अग्नि के परमाणु सूर्य तक पहुँचते हैं; का उत्तर ऋग्वेद देता है कि हाँ— 'महस्ते सतो वि चस्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति मानवः ।^१ पाँच भौतिक सृष्टि के अस्तित्व को स्वीकार न करने वाले आज के वैज्ञानिक मानते हैं कि— "But the actual mechanism by the atom radiates light and by which light is propagated through space remains one of nature's supreme mysteries."^२ उनकी दृष्टि में यह एक रहस्य ही है । इस विषय में उनके कुछ और कथन^३ उल्लेखनीय है—

(A.) The fundamental question—is light waves or is it particles? has never been answered.

(B.) So it makes no practical difference whether individual electrons are particles or systems of waves.

(C.) He knows that electricity is not a fluid, and he knows that such pictorial concepts as 'waves' and 'particles' while serving as guideposts to new discovery, must not be accepted as accurate representations of reality.

इस कथन में स्पष्ट नहीं हो सका है कि प्रकाश की तरंगें हैं या HYPERLINK MAILTO : d.k./ विज्ञान दोनों प्रकार से काम चला लेता है। चाहे अणुओं को कण मान ले या तरंगों का प्रकार । परन्तु यह कथन अपेक्षित सत्य को अनावृत करने में समर्थ नहीं है। आइनस्टीन मानते हैं कि प्रकाश रश्मियाँ सीधी रेखाओं में गुरुत्व शक्ति के कारण नहीं चलती । ऋग्वेद का नासदीय सूक्त भी यही भावना करता है 'तिरश्चीनो विततो रश्मिः'^४ रश्मि के तिरछे चलने में वायु का तिरछा चलना सहायक हैं। किरणें मरुतों के साथ मिलकर वैद्युत प्रभाव उत्पन्न करती है। इसी प्रभाव से मिली चुम्बकीय शक्ति पृथ्वी के अन्दर लोह भाग में वही प्रभाव उत्पन्न करके पृथ्वी को दृढ़ करती है। बहुत पहले एक समय सूर्य रोचन से विरत था।^५ देव प्रायश्चित्त के बाद सूर्य में रोचन प्रारम्भ हुआ । दश ऋषभा, सोरी श्वेता वशा, सोमात्र रूच तथा एकविंशग्र के द्वारा प्रायश्चित्त स्वरूप चरन रखा गया। जैमिनीय ब्राह्मण^६ के अनुसार नैदाध मास में प्रजापति ने सूर्य को दीप्ति प्रदान की । इनमें एकविंशग्र किसी यज्ञ का भाग है तथा शेष अन्तरिक्ष में स्थित पदार्थ है। उक्त सूर्य—रुच के सम्बन्ध यजुर्वेद का कहना है कि सूर्य में अग्नि और देवों के रुच हैं। ये रुच रश्मियों द्वारा विस्तार

^१ ऋग्वेद : १/३६/३

^२ The universe and Dr. Einstein, P. 19

^३ Ibid, P. 30, 32, 39

^४ ऋग्वेद १०/१२९/५

^५ तैत्ति. सं. २/१/४, २/१/८, २/२/१०, ७/३/१०,

^६ जैमिनीय ब्रा. २/३४२

संस्कृत की खगोल भौतिकीय अवधारणाएँ

करते हैं। देव आप और प्राण आदि के रूप हैं। ये प्राण भी सूर्य में तेज का कारण हैं।

सूर्यमण्डल में सप्त गण :

- सूर्यमण्डल में सात गण निवास करते हैं। ये प्रति मास बदले रहते हैं।
१. चैत्र : मधुमास में धाता, क्रतुस्थला, पुलस्त्य, वासुकि, रथक्रत, हेतु, तुम्बुर।
 २. वैशाख : माघवमास में अर्यमा, पुलह, रथौजा, पुंजिक स्थला, प्रहेति, कच्छनीर नारद।
 ३. ज्येष्ठ : शुचिमास में मित्र, अत्रि, तक्षक, रक्ष, पौरुषेय, मेनका, हा हा।
 ४. आषाढ़ : शुक्रमास में—वरुण, बसिष्ठ, रम्भा, सहजन्त्या, हू हू, बुध, रथचित्र।
 ५. श्रावण : नभसमास में—इन्द्र, विश्वावसु, स्रोत, एलापत्र, अंगिरा, प्रम्लोचा, सर्प।
 ६. भाद्रपद : मास में विवस्वान्, उग्रसेन, भृगु, आपूरण, अनुम्लोचा, शंखपाल, व्याघ्र।
 ७. आश्वयुज—मास में पूषा, सुरुचि, धाता, गौतम, धनञ्जय, सुषेण, धृताची।
 ८. कार्तिक : मास में—विभावसु, भरद्वाज, पर्जन्य, ऐरावत, विश्ववाची, सेनजित् आपः (राक्षस)।
 ९. मार्गशीर्ष—मास में—अंशु, काश्यप, तार्क्ष्य, महापद्म, उर्वशी, चित्रसेन, विद्युत।
 १०. पौषमास में : क्रतु, भग, ऊर्णासु, स्फूर्ज, कर्कोटक, अरिष्टनेमि, पूर्वचित्ति।
 ११. माघमास में : त्वष्टा, जमदग्नि, कम्बल, तिलोत्तमा, ब्रह्मापेत, ऋतजित, धृतराष्ट्र।
 १२. फाल्गुन मास में : विष्णु, अश्वतर, रम्भा, सूर्यवर्चा, सत्यजित, विश्वामित्र, यज्ञापेत्।

इन सात गणों में मुनि, गन्धर्व, अप्सरा, निशाचर, पन्नग, दक्ष, और बालखिल्य हैं। विष्णु पुराण^२ में इनके कर्मों का उल्लेख मिलता है कि ये स्तुति, गायन, नृत्य आदि के द्वारा सूर्य मण्डल में हिम, उष्ण और वर्षा का स्रजन करते हैं। ये सप्तगण विष्णु पुराण के अनुसार आपः का ही रूपान्तर हैं।

सूर्य की गति :

तैत्तिरीय ब्राह्मण के पाठ का अर्थ करते हुये आचार्य सायण कहते हैं कि—‘दूरे अर्थः तरणिं भ्रजिमानय ।’ योजनायां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने । एक निमिषार्धेन क्रममाणो नमोऽस्तुते । २२०२ योजन १/२ निमेष में सूर्य का प्रसर्पण होता है। योजना कहीं २ कोस कहीं ४कोस का होता है। यदि योजन मान ४ क्रोश का लें तो यह दूरी $2202 \times 4 = 8808$ क्रोश बने। प्राचीन कालमान की गणना के अनुसार एक प्राण के चार सैकिण्ड। अतः एक सैकिण्ड बराबर १/४ प्राण या $2\frac{1}{2}$ त्रुटि होते हैं और १/२ निमेष में १/१० सैकिण्ड होते

^१ यजुर्वेद १३/२२—२३ :

यास्तेऽग्ने सूर्यो रुचो दिवमातत्वन्ति रश्मिभिः ।

यावो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु व रुचः ॥

^२ विष्णु पुराण : २/१०/१९—२१, वायु पुराण, अध्याय—५३ तथा १/१४/४

हैं। यह कथन सूर्य की किरणों की गति या सूर्य विषयक है, जो गवेषणा का विषय है।

सूर्य को आदित्य इसलिये कहा जाता है कि 'दिव्य' पार्थिव और निशा में होने वाले संभवतः अन्तरिक्ष के आलोक भाग में होने वाले तमों और तेजों के सभी प्रकार सदैव ग्रहण करने से यह आदित्य कहा गया। तथा तेज और आपः बहाने से यह सविता माना जाता है। सूर्य तमः का ग्रहण करता है पन्नग और राक्षस तमः का अंश है सूर्य उनको लेता है। तेज का आदान आग्नेय परमाणुओं तथा दिव्य आपः (अदृष्ट) परमाणुओं का आदान है इनको लेकर सूर्य पुनः आपः और रश्मि तेज को अपने आपसे बहाता है। विज्ञान ताप (Heat) को इनर्जी मानता है जबकि भारतीय ग्रन्थ ताप को अग्नि (पार्थिव-वैद्युत)का गुण मानते हैं। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वैद्युत, जाठर और सौर अग्नियाँ अपांगर्भा हैं। सूर्य स्थित आपः को अमृत कहा गया है। 'आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्'। यास्क ने इस अमृत का अर्थ उदक किया है।^१

सूर्य के सम्बन्ध में वैदिक मनीषा के निष्कर्ष गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। आज का विज्ञान किंचित भारतीय मनीषा के निकट परिणामों को प्रत्यक्ष नहीं करा पा रहा है। तथापि यह विवेचन अवैज्ञानिक हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। हाँ वैदिक साहित्य समग्रता पूर्वक अध्ययन की अपेक्षा तो रखता ही है। एक ग्रन्थ या संहिता के पढ़ने से ही रहस्य उजागर नहीं हो सकेंगे। यह उचित समय है, जब वैदिक मनीषा का भौतिकी एवं रसायन जन्य विज्ञान उद्घाटित हो और रहस्यों का ज्ञान सार्वजनीन हो।

सूर्य परिवार

सूर्य पत्नियां :

भारतीय पुराणों में सूर्य की ५ पत्नियों का उल्लेख मिलता है। १. प्रभा, २. संज्ञा, ३. राज्ञी, ४. वड्वा, ५. छाया। ये पत्नियाँ कौन हैं, इनका क्या स्वरूप है। इसका आधिवैज्ञानिक स्वरूप विचारणीय विषय है।

१. प्रभा : मत्स्य पुराण ने सूर्य की तीन पत्नियों का उल्लेख किया है। संज्ञा राज्ञी तथा प्रभा। इनमें संज्ञा त्वष्टा की पुत्री थी। राज्ञी के पिता का नाम रैवत था। प्रभा से ही प्रभात जन्म या उदय होता है।^२

२. संज्ञा : (सरण्यू) (क) मत्स्य पुराण (११/२-३) में संज्ञा संज्ञा को त्वष्टापुत्री बताया गया है। यहीं यह भी वर्णन है कि संज्ञा से अनु तथा यम एवं यमुना यमज (जुड़वाँ) संतान की उत्पत्ति हुई है।

^१ ऋग्वेद, १०/८५/२०

^२ निरुक्त १२/८

^३ मत्स्य : ११/२-३ : तस्य पत्नीं त्रयं तद्वत्संज्ञा राज्ञी प्रभा तथा ॥२॥

रैवतस्य पुत्री राज्ञी रैवतं सुश्रुवे सुतम् ।

प्रभातं सुश्रुवे त्वाष्ट्री संज्ञा तथा मम् ॥३॥

(ख) वायु पुराण में त्वष्टा की पुत्री का नाम सुरेणु बताते हुए उससे मनु तथा यम यमुना यमल संतानों का जन्म बताया गया है। यहाँ सुरेणु को ही संज्ञा नाम से सूर्य पत्नी कहा गया है।¹

(ग) वायु पुराण में (८४/३,) में ही सूर्य के ज्येष्ठ पुत्र मनु एवं उनसे छोटे यम एवं यमी यमज पुत्रों एवं पुत्री को ही बताया गया है। स्पष्ट है कि यम और यमुना ही यम, यमी हैं और दोनों भाई-बहन हैं।²

(घ) बृहदेवता में त्वष्टा के दो यमज—सरण्यू तथा त्रिशिरस नामक संताने बताई गयी हैं। त्वष्टा ने सरण्यू का विवाह विवस्वत् से किया गया। सरण्यू से विवस्वत् के द्वारा यम—यमी का जन्म हुआ। ये दोनों भी यमज थे और इनमें यम ज्येष्ठ थे।³ मैक्डोनल ने इसी विषय में अपने अनुवाद में लिखा है—

“Tvastr had twins children. Sarnyu as well as Trisiras. He himself gave Sarnyu in marriage to Vivasvat. Then yama and Yami were begotten on Sarnyu by Vivasvat and these two also were twins but the elders of the two was Yama. (162-163)”.

इस विषय में हमारा विनीत मत है कि वायु पुराण (८४/२१) में अंकित ‘सुरेणुरिति’ श्लोकांश की सुरेणु ही बृहदेवता (६/१६) में उल्लिखित सरण्यू ही है। पुराण में यह पाठान्तर आया प्रतीत होता है। ऋग्वेद में दो मंत्र हैं, जिनमें सरण्यू एवं उनके द्वारा जोड़े को ‘अजहात’ (त्यागा—उत्पन्न किया) स्मृत है। इन मंत्रों की व्याख्या पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ने इस प्रकार की है। “त्वष्टा नाम के देव अपनी कन्या सरण्यू का विवाह करनेवाले हैं। इस उपलक्ष में सारा संसार आ गया है। जिस समय यम की माता का विवाह हुआ उस समय महान् विवस्वान् की स्त्री अदृष्ट हुई।”⁴ “अगर सरण्यू के मनुष्यों के पास छिपाया गया। सरण्यू के समान एक स्त्री का निर्माण इसके विवस्वान् को उसे दे दिया गया। इस

¹ वायु. ८४/२१-२२: सुरेणुरिति विख्याता स्वयसा तस्य यवीयसी ।

त्वाष्ठी सा सवितुर्भार्या पुनः सञ्ज्ञेति विश्रुता ।

असूत तपसा सा तु मनुं ज्येष्ठं विवस्वतः ॥

यमौ पुनः असूताऽसौ यमञ्च यमुनाञ्च ह ॥

² वायु. ८४/३९ : मनुर्विवस्तो ज्येष्ठः श्राद्धेवः प्रजापतिः ।

ततो यमो यमी चैव यमजौ सम्बभूवतु ॥

³ बृहदेवता ६/१६२-१६३ : अयवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यू त्रिशिराः सह ।

स वै सरण्यू प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वतो ॥

ततः सरण्यू जज्ञाते यम यम्यौ विवस्वतः ॥

तौ चायुमौ यमाणेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः ॥

⁴ ऋग्वेद शा.सं. १०/१७/१२ : त्वष्टा दुहित्रे बहुतं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति ।

यमस्म माता पर्यु ह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥

अपागूहन्मृतां मर्तेभ्यः कृत्वी सवर्णामदुर्विवस्वते ।

उताशिव नावभरद्यत तदासीदजहादु द्रामिथुना सरण्यूः ॥

समय अश्व रूपी सरण्यू ने अश्विद्वय को गर्भ में धारण किया और यमज सन्तान को उत्पन्न किया।

विष्णु पुराण में संज्ञा के द्वारा किस प्रकार स्वयं को छाया रूप में प्रस्तुत करते हुए अन्य सन्तानें उत्पन्न की गई; इसका वर्णन मिलता है। तदनुसार मनु, यम एवं यमी के जन्म के उपरान्त कालान्तर में जब संज्ञा अपने पति का तेज सहन न कर सकी तो छाया को पति की सेवा में नियुक्त कर स्वयं तपस्या के लिए वन को चली गई। सूर्य ने छाया को संज्ञा समझ कर छाया से शनैश्चर एक अन्य पुत्र मनु तथा तपती ये तीन संताने उत्पन्न की। एक दिन जब छायारूपी संज्ञा ने क्रोधित हो यम को शाप दिया तब सूर्य एवं यम को ज्ञात हुआ यह संज्ञा नहीं कोई और है। तब छाया के द्वारा ही सारा रहस्य खुल जाने पर सूर्य ने समाधि में स्थिति होकर ज्ञात किया कि संज्ञा घोड़ी का रूप धारणकर तपस्यारत है। सो सूर्य ने भी अश्व रूप धारण कर उससे दो अश्विनीकुमार और रेतस्नाव के अनन्तर ही रेवत को उत्पन्न किया। तदुपरान्त सूर्य संज्ञा को अपने स्थान पर ले आये। बाद में विश्वकर्मा ने उनके तेज को शान्त किया। उसने सूर्य को भ्रमियंत्र (सान) पर चढ़ाकर उसका तेज छांटा किन्तु वे उस अक्षुण्य तेज का केवल अष्टमांश ही क्षीण कर सके।¹

विष्णु पुराण का यह मन्तव्य ऋग्वेद शाकल्य संहिता के मन्त्र १०/१७/१-२ जो उपर्युक्त कंडिका में उद्धृत है से पर्याप्त साम्य रखता है। अतः पुराण की वेदमूलकता सिद्ध होने के साथ वैज्ञानिक दृष्टि प्रस्तुत कर रहस्य का उद्घाटन भी करता है।

राज्ञी : राज्ञी रेवत की पुत्री है। रेवत तत्व की वैज्ञानिकता विचारणीय है।

३. बड़वा : सामान्य रूप से बड़वा घोड़ी को कहा जाता है। इसी से अश्वनी कुमारों का जन्म हुआ था।

४. छाया : छाया के विषय में पूर्व में परिचय दिया जा चुका है।

५. ऋषि शौनक ने वृहदेवता में वृषाकपायी, सूर्या, और उषस् को भी सूर्य की पत्नी बताया है।^२ इसी प्रसंग में बताया गया है कि सूर्योदय के समय से पूर्व उषस् मध्याह्न में सूर्या तथा सूर्यास्त पर उन्हें वृषाकपायी कहते हैं। परन्तु

^१ विष्णु २/३:

सरा अंश—संज्ञेयमित्यथार्कश्च छायायामात्मजत्रयम् ।

शनैश्चरं मनुं चान्यं तपतीं चाप्यजीजनत् ॥ ४ ॥

छायासंज्ञा ददौशापं यमाय कुपिता यदा ।

तदान्येयमसौ बुद्धिरित्यासीद्यमसूर्ययो ॥ ५ ॥

ततो विवस्वानाख्याते तयैवारण्यसं स्थिताम् ।

समाधिदृष्ट्या ददुशे तामश्वां तपसिस्थिताम् ॥ ६ ॥

वाजिरूप धरः सौष्ठ तस्यां देवावथाश्विनौ ।

जनयामांस रेवन्तं रेत सोऽन्ते च भास्करः ॥ ७ ॥

^२ वृहदेवता : २/८ : तस्य मुख्यतयौ देवावविश्वनौ सूर्यमाश्रितौ ।

वृषाकपायी, सूर्योषा सूर्यस्यैव तु पत्नयः ॥

आचार्य यास्क ने इस रहस्य को प्रगट किया है^१ उनके अनुसार ये सबको व्यापते हैं जिससे अश्वनौ हैं। रस से अन्य तथा ज्योति से दूसरा व्यापते हैं। ऋषि औरण्वाम का मत है कि ये अश्वों के कारण अश्वनौ है। ये अहोरात्र है। अन्य एक आचार्य उन्हें सूर्य एवं चन्द्रमा कहते हैं। ऐतिहासिक विद्वान् इन्हें दो पृथक् राजा बताते हैं। दोनों का काल अर्धज्ञरात्रि के बाद है। प्रकाश होने के भाव का अनुविस्तम्भ (है)। इसके बाद का तमोमय मध्यम भाग है तथा ज्योति का भाग आदित्य है। 'विस्तम्भमनु' की व्याख्या में ब्रह्ममुनि ने 'निरुक्त सम्मर्शः' में लिखा है^२ कि प्रकाश में आरम्भ से सूर्य का प्रकाश जब तक स्थिर हो उन दोनों का काल 'विस्तम्भमनु' हैं और दोनों का काल सूर्योदयपर्यन्त है।

सूर्य की सन्तति

संस्कृत पुराण साहित्य में सूर्य के मनु, यम, यमी, शनैश्चर अन्य मनु एवं तपती, अश्वनीकुमार, प्रभात आदि १० पुत्र एवं ३ पुत्रियों का वर्णन प्राप्त होता है।

१. मनु : मत्स्य पुराण (११/३) में मनु को त्वष्टा पुत्री संज्ञा का पुत्र बताया गया है। वायु पुराण (८४/११-१२) तथा विष्णु पुराण (३/२/१२) में इसी मत का समर्थन है। नृसिंह पुराण (१८/१३) में भी मनु, यम-यमी को भी संज्ञा से उत्पन्न बताया गया है।
२. यम-यमी : ये यमज संतान संज्ञा से उत्पन्न हैं। अतः ये भाई-बहन हुए। ऋग्वेद शाकल्य संहिता के दशम मण्डल का दसवां सूक्त यम-यमी सूक्त कहलाता है। जो संवादात्मक है। यमी के द्वारा यम के प्रति काव्यमय प्रणय निवेदन करने पर यम ने उससे कहा कि 'दिन-रात में यम के हेतु उसके भाग को यज्ञमान प्रदान करे। सूर्य का तेज यम के निमित्त उदय हो। धु एवं पृथ्वी लोकों का मिथुन (जोड़ा) यम का बन्धु है। भाई यम के अतिरिक्त यमी अन्य पुरुष को प्राप्त करे। भविष्य में ऐसा युग होगा जब वहिनें अपने बन्धुत्वहीन भाई को पति रूप में वरण करेंगी। सुभगे ! मुझे छोड़कर पतिरूप में अन्य की इच्छा करो। वह जिस समय वीर्य सिंचन में विरत हो उस समय अपनी भुजाओं से उसका आलिंगन करना।^३

^१ निरुक्त : १२/१ अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्ये ज्योतिषामन्यः । अश्वैरश्विनाबित्यौर्णवाम् तस्मात् अश्विनौ ? द्वावापृथ्व्याः वित्यं के । अहोरात्रावित्येकं । सूर्य चन्द्रमसा दित्येकं । राजानौ पुण्यकृतावित्येतिहासिकाः । तयो काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् । प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनुतयोः भागो हि मध्यमः ज्योतिर्भागः आदित्यः ।

^२ निरुक्तसम्मर्श — प्रकाशीभावस्यविष्टम्भत्वमनुस्थितितत्त्वमनु स्थिरत्वमनुयावत् सूर्यस्य प्रकाशः स्थिरो भवेत् । सः तपोः कालः वक्ष्यति द्वाचार्योऽग्रे तयोः कालः सूर्यपर्यन्तः ॥

^३ ऋक्. शा.सं. : २०/१०/९-१० : रात्रीभिरस्या अहमिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुह्निमीयात् । दिवा पृथिव्या मिथुना सम्बन्धु यमीर्यमस्यस विमुयाद जमि ॥ आ द्वाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः, कृष्णवन्नजामि । उप वर्द्धहि वृषभाय वाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिमत् ॥

वृहदेवता (६/१६३) में सरण्यू विवस्वत से यम—यमी का जन्म माना गया है। ऋग्वेद शाकल्य संहिता के उपर्युक्त सूक्त (१०/१०) में मैथुनार्थ निवेदन करनेवाली यमी को यम ने अस्वीकृत कर दिया । मैक्डॉनल ने वृहदेवता के अनुवाद में यमी—यम को विवस्वत की संतान मानते हुए लिखा है कि—

“Yama rejects Yam who solicits him with a view of sexual Intercourse . The dialogue Hither in deed (O cit X.10) of those two children of Vaivasvat is (deacapture of) that.

आचार्य सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकार उदीयाचार्य ने ऋग्वेद शां.सं. मंत्र (१०/१०/१) का भाष्य करते हुए उसमें इतिहास माना है तथा यम—यमी को भाई—बहन बताया है। “अत्रेतिहासमाचक्षते—अमीकिलयमं समुद्रस्य मध्य कंचिदावान्तरद्वीपं रम्मं रमणाय नीत्वा कामितावती । स च यमस्तां भगिनीत्वात् प्रत्याख्यातकनिति ।

इसी प्रकार वैकटमाधव ने भी ऋग्वेद शां.सं. (१०/१०/२) के भाष्य में यमी को एक पिता की संतान बताते हुए उसे यम के द्वारा मैथुन के अयोग्य बताया है । ‘यमस्य वचनम् । न तव सखा सख्यम् एतत् कामयते, यस्मादियं समानलाञ्छना एक पितृक त्वात् विषम् रूपा मैथुनाऽयोग्या भवति ।

गर्ग संहिता नामक उप पुराण के माधुर्य खण्ड में १९वां अध्याय यमुना सहस्रनाम है। इस सहस्रनाम के क्रम सं. ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ४०३, ५९९, ७९९ तथा ९२६ पर क्रम से सूर्यजा सूर्यनन्दिनी, संज्ञा, संज्ञासुता वेदमूर्ति, वेदसन्धि तथा ध्रुवपूर्णता नाम विद्यमान हैं। ये सभी नाम प्रस्तुत प्रसंग में सार्थक हैं। यास्क ने निरुक्त (१२/१०) में उपर्युक्त मंत्र (१०/१७/२) को उद्धृत करते हुए लिखा है। “अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः । कृत्वी सवर्णामिदददुर्विवस्वते । अप्यश्विनावभरत् । यत्तदासीत् । अजहाद् द्वौ मिथुना सरण्यूः । मध्यमं च माध्यमिका च वाचमिति नैरुक्ताः । सयमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः । अत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत् आदित्याद्यमौ मिथुनौ जनयाज्वकार । सा सवर्णामन्यां प्रतिनिध्याश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव । स विवस्वानादित्य आश्वमेघ रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव ततोऽश्विनौ जज्ञाते । सवर्णायां मनुः । तदभिवादिन्येषऽर्भवति ॥”

अर्थात् —मर्त्यों से अमृता को छिपाया । सवर्णा को विवस्वान् के लिए दिया तथा अश्विनौ ने धारण किया। सरण्यू ने दोनों को त्यागा । नैरुक्त लोग मध्यम (तमोभाग) को और माध्यमिका वाक् कहते हैं। ऐतिहासिक लोग यम और यमी कहते हैं। इस सम्बन्ध में इतिहास को कहते हैं। ऐतिहासिक लोग यम—यमी कहते हैं। त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वत के पुत्र आदित्य से (यम—यमी) मिथुन को उत्पन्न किया । वह अन्य सवर्णा को अपना प्रतिनिधि नियत कर घोड़े का रूप बनाकर उसके पीछे गया तथा स्वायंभुव संगमित हुआ । तब अश्विनौ उत्पन्न हुए । सवर्णा में मनु उत्पन्न हुए । उसकी यह ऋक् है।

^१ वृहदेवता ६/१५४ :

मैथुनार्थमभीप्सन्ती प्रत्याचष्टे यमी ममः ।

ततो विदिति संवादो विवस्वत्सुतयोस्तयो ॥

इसके आगे यास्क ने ऋ.शा. सं. १०/११/१ मंत्र अंकित करते हुए अपना निर्वचन लिखा है।

“त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोति । इतीदं विश्वं भुवनं समेति । इमानि च सर्वाणि भूतान्यमिसमागच्छन्ति । यमस्त माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्ततो ननाश । रात्रिर्ग दित्यस्य आदित्योदयेऽन्तर्वीयते ।”

त्वष्टा दुहिता को लेता जाता है। यह सारा भुवन आता है। ये सब भूत एकत्र होते हैं। ले जाती हुई यम की माता स्वाहान् विवस्वान् की पत्नी का नाश हुआ। रात्रि उदय होने पर अन्तर्धान होती है।

३. शनैश्चर, मनु तथा तपती : ये तीनों छाया के पुत्र हैं। नृसिंह पुराण में यह स्पष्ट उल्लेख है।^१ जब संज्ञा से सूर्य तेज नहीं सहा गया तो उसने अपने प्रज्ञावल से स्वामी के उपभोग के लिए अपनी छाया के रूप में एक स्त्री को उत्पन्न करके तथा वहीं घर में उसे छोड़कर उत्तर दिशा में चली गई। वहां घोड़ी का रूप धारण कर विचरने लगी। आदित्य ने भी उसे अपनी पत्नी संज्ञा समझ कर छाया के गर्भ से तीन संतान उत्पन्न कीं। इसी पुराण में आगे उल्लेख है कि छाया को अपनी संतति के प्रति समान व्यवहार न करते देख यम ने विवस्वान् को बताया कि यह उसकी माता संज्ञा नहीं है। छाया ने उसे शाप दिया कि ‘यम तुम प्रेतों के राजा बनो और यमी तुम यमुना नदी हो जाओ। यह देखकर विवस्वान् ने छाया से उत्पन्न संतान को शाप दिया। उन्होंने शनैश्चर को क्रूर दृष्टा, मन्दगामी तथा पाप ग्रह होने का शाप दिया और तपती को भी नदी होने का शाप दिया।

४. अश्विनौ : शनैश्चर की उत्पत्ति के उपरान्त नृसिंह पुराण के अनुसार^२ विवस्वान् ने देखा कि संज्ञा उत्तर कुरु में घोड़ी बन विचर रही है। अतः स्वयं घोड़ावन वहां जाकर उसके साथ संपर्क किया। उस अश्वी संज्ञा से दोनों अश्विनौ जन्में। सुन्दर शरीरवाले उन दोनों पुत्रों को स्वयं ब्रह्मा ने आकर देवत्व तथा यज्ञ भाग प्रदान किया और उन्हें देवताओं का मुख्य वैद्य बनाया। तदुपरान्त आदित्य ने अश्वरूप त्यागकर संज्ञा को लेकर द्यु लोक चले गये।

भविष्य पुराण के अनुसार मार्तण्ड अश्व रूप में मुख के द्वारा प्रवर्त हुए और संज्ञा (अश्वी) में विवस्वान् के शुक्र को नासिका में धारण किया। उससे अश्विनौ श्रेष्ठ वैद्य जन्में।^३

शतपथ ब्राह्मण में अश्विनो को द्यावा पृथ्वी माना है। तथा उन्हें पुष्करम्नजौ’ कहा है। पारस्करगृह सूत्र (२/४/८) में ‘मेघामाश्विनौ देवावाधत्तां

^१ नृसिंह पु. १८/१३-१५ : आदित्योऽपि संज्ञयमिति मत्वा तस्यां जायां पुनरपत्यत्रयमुत्पादयामास ॥ मनु शनैश्चरं तपतीं च.....।

^२ नृसिंह पु. १८/२१-२२ : तस्यामेवादित्यादश्विनावुत्पन्नौ तयोरतिशय वपुषोः साक्षात् प्रजापति आगत्य देवत्वं यज्ञ भागत्वं मुख्यं च देवानां मिषगत्वं दत्त्वा जगाम । आदित्यश्चयश्वरूपं विहाय स्वभावी संज्ञां त्वाष्टीं स्वरूपधारिणीं नीत्वा स्वरूपमास्थाय दिवं जगाम ॥

^३ भविष्य पुराण ७९/५५-५६ : अश्वरूपेण मार्तण्डस्तां मुखेन समधारयत् । सा तं विवस्वतः शुक्रं नासाम्भां समधारयत्।

पुष्करज्जाविनि' में भी यहीं उल्लेख है। इसके भाष्य में गदाधर ने 'पद्ममालाधारिणौ' लिखा है। यह पुष्पनाला कौन सा वैज्ञानिक तत्व है। यह विचारणीय है।

अदिति

पुराणों के अनुसार दक्ष प्रजापति की अदिति, दिति, अरिष्ठा, सुरसा, रवसा, सुरभि, विनता, ताम्रा को भ्रवशा, इरा, कद्रू तथा मुनि नामक कन्याओं का विवाह कश्यप ऋषि से हुआ।^१ अदिति नामक कन्या का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करने के लिए दक्ष एवं कश्यप को समझना होगा।

दक्ष : श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा की गोद से नारद, अंगुष्ठ से दक्ष प्राण से बसिष्ठ त्वक् से भृगु तथा हाथ से क्रतु की उत्पत्ति का वर्णन है।^२ इस वर्णन का मूल स्रोत यजुर्वेद का ३१वां अध्याय है। ब्रह्मा का किस प्रकार विवर्त हुआ एवं तत्व कैसे विकसित हुए। यह रोचक रीति से पुराणों में वर्णित है।

दक्ष प्रजापति हैं। जब तक आकाशीयतत्वों की रचना पूर्ण भी नहीं हो पायी थी

और पृथ्वी की रचना पर्याप्त समय के उपरान्त हुई। दक्ष को प्राणमयी सृष्टि का एक अंग माना गया है। इन्हीं प्रजापतियों से सृष्टि की संरचना हुई। शतपथ ब्राह्मण में इस प्राणमयी सृष्टि को उसकी गत्यात्मकता के कारण ऋषि संज्ञा से अभिहित किया गया है।

अरुद्रा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदसदासीत् । ऋषयो वाव तदग्रे असदासीत् । तदाहुः केते ऋषयः? प्राणाः वा ऋषयः। ते यत्पुरा यस्मात् सर्वस्मात्—इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन् तस्मात् ऋषयः ॥ (शतपथ ६/१/१/१)

पुराणों में इसी ऋषि प्राण को मानसी सृष्टि कहा गया है। इन ऋषि प्राणों के नाम भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि, तथा वशिष्ठ बताये गये हैं। ये ही नौ ब्रह्मा हैं। इनमें से दक्ष की उत्पत्ति प्राण से मानी गयी है।^३ विष्णु पुराण ने सृष्टि रचना के विषय में एक अन्य दक्ष का भी वर्णन किया है। इसके अनुसार पृथु के पुत्र अन्तर्धान और अन्तर्धान के पुत्र हविर्धान एवं हविर्धान की पुत्री धिषणा थी जिससे प्राचीन—वर्हि का जन्म हुआ। प्राचीनवर्हि के पुत्र प्राचेता दक्ष थे। यह वर्णन उस समय यका है जब पृथ्वी की रचना हो चुकी थी। पृथु ने पृथ्वी का दोहन कर लिया था उस समय मैथुनी सृष्टि का विकास हुआ। इस प्रकार देखें कि उक्त दोनों दक्षों में पर्याप्त अन्तर है। प्रथम दक्ष मानसी सृष्टि के हैं तथा प्राणात्मक हैं जबकि द्वितीय दक्ष मैथुनी सृष्टि के हैं, पुराणों में समान नाम शब्दों के प्रयोग के कारण कभी कभी किंचित भी ध्यान हट जाने से

^१ विष्णु पुराण : १२६.१२७

^२ भागवत ३/१२/२३ : उत्साङ्गनारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयंभुवः ।
प्राणाद्वशिष्ठं संज्ञातो भृगुस्त्वचिकरत्क्रतुः ॥

^३ वायु. ९/१०० : मानसश्च रुचिनामि विज्ञेया ब्राह्मणः सुतः ।
प्राणास्त्वाद सृजजद्वक्षं च क्षुर्ध्यां च मरीचिनाम् ॥

तथ्य का व्यतिक्रम हो जाता है। वेद के संहिता एवं ब्राह्मण भाग में दक्ष के सम्बन्ध में निम्न श्रुतियाँ मिलती हैं ।

१. असच्च सच्च परमे व्योमन दक्षस्य जन्मनदिते रूपस्थे ।

अग्नि र्ह न प्रथम जा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषमस्य धेनुः ॥

ऋ.शा.सं. १०/५/७

२. दक्षस्य वादिते जन्मनि वृते राजानां मित्रावरुणा विवाससि ।

अतृत्पन्था पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विष्णुरुपेषु जन्मसु ॥

ऋ.शा.सं. १०/६४/५,

३. भूर्जज्ञ उत्तानपदो युव आशा आजायन्त,

अदितेर्दक्षौ अजायन्त दक्षाद्विदितिः परि ।

अदिति ह्यजनिष्ठ दक्ष दुहिता तव,

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतवन्धवः ॥

ऋ.शा.सं. १०/७२/४-५

४. अदिति ह्यजनिष्ठ दक्ष या दुहिता तव,

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतवन्धवः ॥

ऋ.शा.सं. १०/७२/४-५

५. अथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षः । (शतपथ, ४/१/४/१)

६. दक्षश्च मे वलज्व मे (यज्ञे. कल्पन्ताम्) । तैत्त. सं. ४/७/१/२

७. प्राणाः वै दक्षाः । (जैमि.ब्रा., ३/६२) १/१५१, ३/६२,

८. स (प्रजापतिः) वै दक्षोनाम । (शतपथ ब्रा. २/४/४/२)

उपर्युक्त श्रुतियों में निम्न शब्द विचारणीय हैं: असत्, सत्, व्योमन्, दक्ष, अदिति, उत्तानपद, तथा प्राण । इसमें असत् = ऋषि,^१ सत् = भावजगत,^२ व्योम = आकाश,^३ दक्ष = प्राण,^४ अदिति = प्रकृति,^५ उत्तानपाद = नक्षत्र का मूल कारण,^६ तथा प्राण = विशुद्ध ऋषि तत्त्व,^७ के वाचक हैं। यदि उक्त विवरण पर एक साथ विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि आदि सृष्टि में जब प्रकृति सृजन कार्य में रत थी— यह वर्णन उसी समय का है।

पुराणों में दक्ष की ६० कन्याओं के नामों का उल्लेख विष्णु पुराण १/७/२२-२५ के अनुसार श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि तथा कीर्ति नामक दक्ष कन्याओं को धर्म ने पत्नी रूप में ग्रहण किया । इनके अतिरिक्त क्षाति, सती, संभूति, स्मृति, क्षमा, संतति, अनसूया, अर्ज्जा, स्वाहा, और स्वधा आदि कन्याओं का भृगु आदि ऋषियों ने एवं

^१ वायु. १/१४/१-४

^२ शतपथ ब्रा. : ६/१/१/१

^३ गीता : २/१६

^४ ऋ.शा.सं. १०/१२९/१

^५ शतपथ ब्रा. ६/१/१/१

^६ स्कन्दस्वामी ,

^७ भागवत ३/१२

^८ शतपथ ६/१/१/१

पितरों ने ग्रहण किया । विष्णु पुराण १/१५/१०४ के अनुसार दक्ष ने ६० कन्याओं में से २७ सोम को दीं । आगे वर्णन है कि ये २७ सोमदत्त कन्याएँ २७ नक्षत्र—योगिनी हैं। यह तत्त्व आकाशीय पदार्थों की रचना में कारण रूप हैं^१।

कश्यप :

वायु पुराण ९/१०० में जिन नौ ब्राह्मणों के मानस पुत्रों का वर्णन है उनमें एक का नाम मरीचि है। इन्हीं मरीचित के पुत्र कश्यप थे । अग्निपुराण ५/२ के अनुसार मरीचि से कश्यप—कश्यप से सूर्य, सूर्य से वैवश्वत मनु का जन्म हुआ। इससे प्रकट होता है कि मरीचि प्राण से कश्यप प्राण की तथा उससे सूर्य का जन्म हुआ। इस प्रकार कश्यप एवं मरीचि सूर्य से पूर्व की उत्पत्ति हैं। वैज्ञानिक भाषा में मरीचि का विवर्त कश्यप तथा कश्यप का विवर्त सूर्य है। कश्यप के विषय में वायु पुराण में लिखा है कि वे (कश्यप) सविता के जनक थे। अतः उनकी महत्ता ब्रह्म के समान थी। सभी मन्वन्तरों में वे ब्रह्म के अंश से अवतीर्ण होते हैं। दक्ष ने कन्या के लिए सभी प्रजाओं को कुपित कर दिया । तब अरिष्टमुनि ने कश्य (मधु) पान किया। दृश्चेक सा मी 'मधु' ही है। वचन व मन को कश्यप कहते हैं। ब्राह्मणों में कश्य मधु को कहा गया है। और उसी 'कश्य' (मधु) के पीने के कारण 'कश्यप' नाम पड़ा । वेद के विद्वानों का मत है मद्य ही मधु है । यह मधु रसरूप है। संसार की उत्पत्ति में रस या अप् तत्त्व का पूर्ण योग है । उपनिषदों में मधु विद्या का विशद वर्णन मिलता है। कश्यप के सम्बन्ध में ब्राह्मणों में एक अन्य मत भी मिलता है । जिसके सम्बन्ध में निम्न श्रुतियाँ अवलोकनीय हैं।

i. कश्यपो वै समुद्रमत्तिपरीयेतुमर्हन्त । जैमनीय ब्रा. ३/२७३

ii. कश्यपः पश्यको भवति । यत्सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् ।
तैत्ति.आ. १/८/८

iii. यत्कूर्मोनाम । एतद्वैरूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यत् य सृजताकरोत्तद्वदकरोत्तस्यात्कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तदाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप इति । (शतपथ ब्रा. ७/५/१/५)

iv. प्राणो वै कूर्मः प्राणोहीयाः सर्वाः प्रजा करोति ।

शतपथ ब्रा. ७/५/१/५

जब मरीचि प्राण कश्यप रूप में विवर्तित होता है तो वह कूर्म (कछुये) का रूप धारण कर लेता है । कछुआ ऊपर से कठोर तथा अर्ध वृत्ताकार होता है और उसका निम्न भाग कोमल होता है। साथ ही उसमें संकोचन शक्ति विद्यमान रहती है। आवश्यकता पड़ने पर वह प्रसारण भी कर सकता है। कश्यप—प्राण में

^१ विष्णु १/१५/१३५ या सप्त विशतिः प्रोक्ता सोमपत्न्योऽथ सुव्रताः ।

वायु पु. अध्याय ६५, कश्यपः सवितुर्विद्वां स्तेन स ब्रह्मणः समः । मन्वन्तरेषु सर्वेषु ब्राह्मणांशेन जायते ॥ ११४—११६ ॥

यह सभी गुण विद्यमान रहते हैं। इसमें दृष्टा मात्र रहने के कारण इसे 'पश्यक' कहा जाता है जो वर्ण विपर्यय से कश्यप बन जाता है।

प्राण को कूर्म कहते हैं। उसमें सर्जना शक्ति निहित होती है। वही समस्त प्रजा की रचना करने के कारण कूर्म कहलाती है। अतः प्राण ही कूर्म है। कश्यप के कूर्म होने के कारण कश्यप—प्राण रूप का अदित से संयोग होता है।

अदिति :

इस प्रकरण के आरम्भ में विष्णु पुराण (१/१५/१२६—२७) में बताया था कि दक्ष प्रजापति की अदिति आदि १३ कन्याएँ कश्यप को दी गयीं। अदिति दक्ष पुत्री है। यह भी स्पष्ट किया था कि दक्ष सृष्टि रचना में सहायक आरम्भिक प्राण तत्व है। इसी प्रकार मरीचि भी दक्ष का समकालिक तथा समस्थानोद्भूत प्राण तत्व है। जिसका विवर्त कश्यप है। जो सृष्टि में प्रवृत्त होने के कारण कूर्म कहलाता है। अदिति दक्ष पुत्री है। इसे कश्यप को दिया गया। इसी से द्वादश आदित्यों का जन्म हुआ। यह समस्त विवरण अमैथुनी सृष्टि का है। इससे स्पष्ट होता है कि अदिति कोई मानवी नारी नहीं है कोई सृष्टि रचना में प्रवृत्त कोई पदार्थ है।

'अदिति एवं दिति' शब्द 'दो अवखण्डने' धातु से सिद्ध होते हैं। तदनुसार अदिति शब्द का अर्थ अखण्डित एवं दिति का अर्थ खण्डित होता है। यास्क ने अदिति को 'अदीना देवमाता' कहा है। (निरुक्त ४/२२) इसी स्थान पर उन्होंने ऋग्वेद शाकल्य संहिता १/८९/१० का निम्न मंत्र उद्धृत किया है।

अदिति द्यौरदितिस्तर्क्षिमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।

विश्वे देवा अदिति पंचजना अदितिजतिमदितिर्जनित्वम्॥

अर्थात् अदिति, द्यौ, अन्तरिक्ष, माता—पिता और समस्त देव हैं। अदिति पंचजन्य है और जन्म का कारण है। इससे अदिति की व्यापकता प्रकट होती है। ऋग्वेद की इसी संहिता के ऋत सूक्त में लिखा है कि प्रज्ज्वलित तप से ऋ एवं सत्य की उत्पत्ति हुई। इसके उपरान्त रात्रि उत्पन्न हुई। उसके बाद समुद्र तदुपरान्त संवत्सर उत्पन्न हुआ। दिनरात्रि का भेद उत्पन्न हुआ। उन्होंने पूर्व काल के अनुसार सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष की रचना की। प्रस्तुत सूक्त में संवत्सर प्राणमण्डल की रचना के उपरान्त ही दिन एवं रात्रि का विभाजन माना गया है। उक्त मण्डल का अदिति प्रकाश भाग है और दिति उसकी अंधकार भाग।

प्रस्तुत प्रकरण में अदिति देवमाता। द्युलोकस्थ एवं प्रकाशमान तत्व ही देव हैं। आचार्य सायण ने ऋ.शा.सं. १/८९/१० के मंत्र का भाष्य करते हुए अदिति को अखण्डनीया कहा है।^१ उसे देवमाता भी कहा है। वह द्यौ है तथा प्रकाशमान् स्वर्ग है। वह विश्व का निर्माण करने वाली है। यास्क अदिति को

^१ ऋ.शा.सं. १०/१९०/१—३ : ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धातपसोऽध्य जायत ।

ततो राज्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥

समुद्रदर्णवादधिसंवत्सरोऽजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिलतो वशी ।

सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्चपृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

^२ ऋ.शा.सं. १/८९/१० : अदितिर्दीनाखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा सैव द्यौर्द्यौतन शील नाकः । सैव माता निर्मात्री जगतो जननी ॥

प्रथमा गामिनी बताते हैं। उन्होने ऋ.शा.सं. मंत्र भी उद्धृत किया है।^१ इसके भाष्य में ब्रह्ममुनि ने नैरुक्त सम्मर्शः में उसे मध्यमस्थानी देवता तथा प्रातस्तनि प्रारम्भ को 'उषोदेवि' सम्बोधित किया है। स्कन्दस्वामी ने भी इसे प्रातस्तनी संध्या कहते हुए ऐतिहासिकों के मत में देवमाता माना है।^२ आगे यास्क अदिति को दाक्षायणी कहते हैं। तथा अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परिः । (ऋ. शा.सं. १०/७२/४) मंत्रांश उद्धृत करते हैं।

हस प्रकार अदिति को दक्ष पुत्री कहते हैं तथा मंत्रांश को प्रस्तुत कर अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ तथा दक्ष से अदिति लिखकर एक समस्या भी उत्पन्न करते हैं। स्कन्दस्वामी ने इस विषय में लिखा है—

“अथ कोऽयं दक्षः । अदितेः पुत्र आदित्यो दक्ष इत्याहुर्ब्रह्मविदः

.....आदित्यमध्ये स्तुतो दक्षः इमा गिर आदित्येभ्यः ।”

तो यह दक्ष कौन ? अदिति पुत्र आदित्य को ब्रह्मविद् पुरुषगण—दक्ष कहते हैं। क्योंकि दक्षों का आदित्यों के मध्य में स्तवन हुआ है। यथा— ‘इमा गिर आदित्येभ्यः ।’ आगे स्कन्दस्वामी लिखते हैं।

इदं तर्हि कथं यदैतिहासिका आहुः । अदितिर्दाक्षायणीति उभयमपि चेदं निगमे श्रूयते । आदित्यो दक्षोऽदितिर्दाक्षायणीति । तद्यथा अदितेर्दक्षोऽजायत । इत्युदाहरणम् ।

इति ऐसा है तो ऐतिहासिकों का मत किस प्रकार माननीय होगा। क्योंकि उनके मतानुसार आदित्य अदिति के पुत्र हैं और अदिति दाक्षायणी हैं। दोनों ही ठीक हैं क्योंकि दोनों प्रकार के ही निगम सुने जाते हैं। आदित्य दक्ष हैं और अदिति दाक्षायणी हैं। उसका यह उदाहरण है कि प्रातःकालीन उषा के उपरान्त सूर्योदय होता है। जिससे ‘अदितेर्दक्षोऽजायत’ अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ तथा संध्या समय सूर्यास्त के बाद प्रातः होने पर उषा उत्पन्न होने से दाक्षायणी कहलाई। इसी प्रकार ब्रह्ममुनि का अदिति को ‘उषा देवि’ सम्बोधन समीचीन है।

प्रस्तुत विचार से स्पष्ट है कि प्राणों की संरचना के उपरान्त सृष्टि कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसमें दक्ष प्राण से अदिति का विवर्त हुआ। इससे देवों की सृष्टि हुई। ये देव द्युलोकस्य तत्त्व थे। इससे आदित्य जन्में। वैज्ञानिक भाषा में दक्ष का अदिति एवं उसका आदित्य विवर्त है जिसके लिये कश्यप प्राणों की आवश्यकता थी।

सूर्य में कलंक

चन्द्रमा का लक्ष्म्य उसका कलंक कहा जाता है। सूर्य में भी कलंक है। गैलीलियो की दूरबीन क्रमशः विज्ञान के सहाय्य से बड़ी शक्तिशाली रूप में विकसित हुई। ये दूर नक्षत्रों एवं एवं ग्रहों तक को निरीक्षण करने की क्षमता रखती हैं। १९१०—११ में दूरबीन के द्वारा तीन व्यक्तियों ने सूर्य के कलंक को देखा जिनमें एक पादरी भी था। उसने कहा कि कोई नक्षत्र सूर्य के आगे भ्रमण

^१ वही, १०/६४/५: दक्ष वादिते जन्मनि वृते राजाना मित्रावरुणौ विवासीति ।

अतूर्तपंथा पुरुरथो अर्यमा सप्त होता विषु रूपेषु: जन्मसु ॥

^२ वही, भाष्य : अदितिः प्रातस्तनी संध्या — ऐतिहासिकानाम् त्वादितिर्देवमाता सोच्यते ।

कर रहा है। परन्तु गैलीलियो ने उसे सूर्य पर धब्बा या कलंक माना। गैलीलियो ने इस सम्बन्ध में एक ग्रन्थ 'सौर कलंक पर पत्र' लिखा जिसके तीन सप्ताह बाद ही उस पर चर्च क्रोध जाग्रत हुआ। उसे दोषी मानकर उसे दण्डित कर नजरबन्द कर दिया गया। अन्ततः वह एकाकी जीवन व्यतीत कर नेत्र हीन हो कर मर गया।^१

इसके बाद विद्वानों का ध्यान सूर्य कलंक की ओर आकर्षित होता रहा। जर्मन विद्वान हाइनरीख श्वेवे ने अपने प्रयोग किये। उनकी खगोल विद्या में रुचि थी और वे सौर मण्डल के किसी अज्ञात ग्रह के अन्वेषण में निरत थे। ११ वर्ष तक अनुसंधान के पश्चात् उसने सूर्य के धब्बों (Spots) के विषय में अपना एक शोधलेख प्रकाशित कराया। उसने लिखा कि लगभग १० वर्ष के बाद सूर्य के धब्बे दिखाई देते हैं। तदनु अदृष्ट हो जाते हैं। क्रमशः अनुसंधानों के परिणामस्वरूप १८५१ में 'The Cosmos' नामक अनेक खण्डों में प्रकाशित ग्रन्थ में अलकजैण्डर हम्बोल्ट ने श्वेवे के निष्कर्षों का स्थान दिया। तदनु कहा गया कि ये धब्बे ११ वर्ष के पश्चात् क्रमशः दिखाई देते हैं।^२ ब्रह्माण्ड दर्शन^३ नामक ग्रन्थ में डॉ. छोटू भाई ने भी यही कहा कि ये धब्बे सूर्य पर सदैव नहीं रहते ये कभी तो होते ही नहीं और कभी अत्यधिक मात्रा में होते हैं। इनके दीखने की न्यूनतम अवधि ११ वर्ष है।

वैदिक वांगमय के ऋग्वेद शाकल्य संहिता में ऐसी दो ऋचाएं प्राप्त होती हैं जिनसे इन धब्बों के सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है।

(क) वीलू चिदारूजलुभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः ।

अविद उग्रिया अनु । (१/६/५)

(ख) तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं द्यौरूपस्थे ।

अनन्तमन्यदुशदस्य याजः कृष्णमन्यद्विरितिः सं भरन्ति ॥ १/११५/५

अर्थात् इन्द्र ने गुहा में छिपी हुई गायों का उद्धार किया। दूसरे मंत्र से ज्ञात होता है कि सूर्य के घोड़े एक ओर अपना बल धारण करते हैं। दूसरी ओर कृष्णवर्ण अंधकार करते हैं। ये गुहा क्या है? जिसमें छिपी गायों का उद्धार किया जाता है। मंत्र में 'वह्निभि' एवं 'उग्रिया' पद क्रमशः अग्नि और किरणों के वाचक हैं। गुहाओं का तात्पर्य अग्नि मय किरणों (ज्वालाएं) जो सूर्य से निकलती हैं होना चाहिये। डॉ. सुधार का मत है कि सूर्य से अग्नि ज्वालाएं निरन्तर निकलती रहती हैं। उनकी गति लगभग ३० किलोमीटर प्रति सैकिण्ड होती है जो ५ मिनट से अधिक देर नहीं ठहरती।^४ यह प्रतीत होता है कि जिस समय सूर्य किरणें बल को धारण कर प्रदीप्त होती हैं उस समय दूसरी ओर कलंक (Sports) प्रकट हुआ करते हैं। भारतीय ऋषि इन धब्बों से परिचित थे। इसी तथ्य को भविष्य पुगण

^१ पृथ्वी और अन्तरिक्ष : अलकजैण्डर मारशेक अनु. नरेश वेदी, पृ. १८१-८३

^२ The Quiet Sun : सडालक कुल्फ, पृ. १४-१७

^३ ब्रह्माण्डदर्शन : डॉ. छोटू भाई, पृ. २७

^४ ब्रह्माण्ड दर्शन : डॉ. छोटू भाई, पृ. २५, ४५

के सूर्यसहस्र नाम स्तोत्र में निम्न श्लोक के कृष्णवासा पद से व्यक्त किया गया है।

पीतवासाः कृष्णवासा दिग्वासा स्त्विन्द्रियतिगः ।

अतीन्द्रियोऽनेक रूपः स्कन्दः पुरंजय ॥ ७२ ॥

सूर्य के धब्बों की उत्पत्ति के विषय में कहा जा सकता है कि सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र के कारण ही कलंक सूर्य में उत्पन्न होते हैं। ये धब्बे सूर्य के 5° से 45° अक्षांश प्रदेश में उत्पन्न होते हैं। ये प्रायः दो दो युग्मों में खिसकते देखे जा सकते हैं।

अश्विनौ का वैदिक स्वरूप

वैदिक देवताओं के आह्वान की गणना की जाय तो स्पष्ट होगा कि ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र और सोम के पश्चात् युग्म देवता अश्विनौ का स्थान है। उनके लिये पचास से अधिक संपूर्ण सूक्त तथा अनेक सूक्तांश प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में उन्हें चार सौ से अधिक बार नाम सहित स्मरण किया गया है। प्रकाश के देवताओं में उनका प्रमुख स्थान है। प्रकाश के किसी भी निश्चित दृश्य के साथ उनका सम्बन्ध इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनका मूल स्वरूप वेद व्याख्याता भी वेद-पूर्व काल में खोजे जाने के हामी हैं। ये देवता युगल रूप में साथ-साथ आने वाले हैं।^१ ऋग्वेद के एक सूक्त का तो प्रयोजन ही यह है कि इस देव जोड़े की तुलना युगल पदार्थों से की जाय यथा 'चक्षु' हाथ, पैर या जोड़े में रहने वाले पशु पक्षी आदि।^२ कुछ मंत्रों में तो उनके मूलतः अलग-अलग होने का भी संकेत मिलता है।^३ ये विभिन्न प्रकार यत्र-तत्र उत्पन्न हुये कहे गये हैं। एक विजयीराज कुमार है तो दूसरा द्यौस् पुत्र कहा गया है। यास्क ने एक को रात्रि पुत्र तथा दूसरे को उषा पुत्र कहा है। ऋग्वेद के एक मात्र विशेष में एक अश्विन् का भी उल्लेख प्राप्त होता है—परि ज्मने ना सत्याय। (५/७३/४, १/१८१/४)

युवा अश्विन! को तैत्तिरीय संहिता देवताओं में कनिष्ठ बताती है। ये सनातन, प्रकाशमान, शुभस्पति, हिरण्यज्योत और मधुवर्ण हैं।^४ वे स्वरूपतः सुन्दर, कमलमालाधारी, शीघ्रगामी, मनोजवा, अमित, शक्तिमान, लालवर्ण के गंभीरचेतनावाले, निगूढ मानसिक शक्तिवाले (मायावी)।^५ इनके लिये दो विशेषण प्रसिद्ध हैं; दम्र तथा नासत्य। 'रुद्रवर्तनी' शब्द विशेषण उनके लिये अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। ये ही एकमात्र देव हैं, जिन्हें हिरण्यवर्तनी (सुवर्णपथवाले) कहा गया है। अश्विन् अन्य देवों की अपेक्षा मधु के साथ अधिक बार संबद्ध देखे जा सकते हैं। उनका एक चर्म मधु-पूर्ण है उनके रथ के खींचने वाले पक्षी भी मधु से आचित हैं। मधुमती कशा उनकी मौलिक विशेषता है। केवल अश्विन् का रथ ही मधुवर्ण या मधुवाहन कहा गया है।^६ ये दोनों देव ही मधुयु, माध्वी या मधुया बताये गये हैं। वे मधुमक्षी को मधु प्रदान करते हैं। सोमप्रिय अश्विन देवों को ऊषस् और सूर्य के साथ सोमपान के लिये आवाहन किया जाता है। हिलब्रांट

^१ ऋ. ३/३९/३ : यमो विदत्त यमसूर सूतं ।

^२ ऋ. १०/१७/२, २/२९/१; ५/७८/१-३; ८/३५/७, ८, ९,

^३ ऋ. ५/७३/४ नाना जालावरेपसा; १/१८९/४; निरुक्त १२/२; ऋग्वेद ४/३/६

^४ ऋ. ७/६७/१०; ७/६८/१; ७/२२/१४, १०/९३/६, १९/९३, ८/८/२, ८/२६/६

^५ ऋ. ८/२६/६; १/११६/९; ६/६२/५ ६/६३/१; १०/१८४/२; ३/२/२२; ४; ६/६३/५; ६/२२/१६, ५/७८/४; १०/२४/४; शतपथ ब्रा. १/४/५/१६,

^६ ऋ. ४/४५/३-४; १/११७/६ 'शतं कुम्भां असिचतं मधूनाम् । १/१५७/४; अश्विनायुवं मधुमत्या नः कशया मिमक्षितम् ।

ने इन्हें सोमयाज के बाहर का देव माना है।¹

अश्विनों का रथ सूर्य के रथ सदृश्य है। जो स्वर्णिम है। उसके सभी रथ—अबयव चक्र, अक्ष और रश्मि सब स्वर्णिम हैं। रथ में एक हजार किरणों या अलंकार हैं। इस रथ की विचित्र बनावट त्रिगुणित है। यह विचार से भी तीव्र गति वाला है। रथ का निर्माण ऋषुओं ने किया। इन देवों का रथ ही त्रिचक्र है। कहा गया है जब ये सूर्या के विवाह में गये तब उनके रथ का एक चक्र खो गया।²

ऐतरेय ब्राह्मण³ के अनुसार सोम—सूर्या विवाह में अश्विनों ने गर्दभोयुक्त रथ में बैठकर प्रतियोगिता में विजय श्री प्राप्त की। इन देवों का द्युलोक के छोर तक पहुँचता है।⁴ एक ही दिन में ये द्युलोक और पृथ्वी की परिक्रमा कर लेते हैं। ऋग्वेद में वर्तिस शब्द का प्रयोग एक अपवाद को छोड़कर सभी स्थानों में अश्विनों के लिये हुआ है।

अश्विनों का स्थान भी विभिन्न प्रकार से निर्दिष्ट है। वे सुदूर द्युलोक से पृथ्वी और द्यु से; द्युलोक तथा अन्तरिक्ष से, वायुलोक से, समुद्र से, वायु से सुदूर एवं समीप से भी आते हैं।⁵ ये द्युलोक के समुद्र पर तथा सलिल पर वनस्पति पर, गृह में और पर्वत श्रृंग पर निवास करते हैं। वे पीछे, सामने, ऊपर और नीचे सब ओर से आते कहे गये हैं।⁶ इनके आविर्भाव का काल अधिकतर उषःकाल (प्रत्यूष) कहा गया है। उषा उन्हें जगाती है। रथ में बैठ वे उषा का अनुसरण करते हैं। उनके रथ जोतने पर उषा का जन्म होता है। कुछेक स्थानों पर अश्विनों का आविर्भाव, यज्ञाग्नि का समिन्धन, उषा की उपस्थिति और सूर्योदय एक साथ घटित होते कहे गये हैं।⁷ अश्विनों को यज्ञ में न केवल नियतकाल पर ही अपितु प्रातः मध्याह्न एवं सायं सूर्यास्त के समय उनकी उपस्थिति प्रार्थित है। ऋग्वेद के सूक्त विशेष में त्रिशब्द की बारम्बारता अश्विन् की विविध क्रीड़ाओं का उद्घाटन करती है। प्रातःकालीन देव अश्विन अंधकार का अपसारण करते हैं, कभी दुर्गत्माओं का पीछा करते हैं। शतपथ ब्राह्मण उन्हें लोहित—श्वेत वर्ण का मानते हैं और इसी वर्ण का बकरा उन्हें प्रदान किये जाने का विधान करता है।⁸

¹ ऋ. १०/४१/३; १/१२१/२१; १०/४०/६; १०/११०/६; 'सारधेव गांव नीचीनवारे । ३/८५/७; ९; ८/३५/१

² ऋ. ४/४४/३—४; 'हिरण्येन सुवृता रथेन ।' १/१८०/१; ८/४/२९; ८/२२/५; रथो यो वां त्रिवक्षुरो हिरण्याभी शुरश्विना । १/११९/१; ८/८/११; १/११८/१—२; त्रिवक्षुरो वृषणा वातरंहा ।' ८/९/८; १/११७/२; १०/३९/१२; १०/८५/१५; यदयात शुभस्पती वरेण्यं सूर्यामुप । क्वैकं चक्रं वामासीत् ।

³ ऐत.ब्रा. ४/७/९, गर्दभरथेनाश्विनो उदजयताम् ।' तुलना करें ऋ. १/११६/७, सायण भाष्य

⁴ ऋ. १८०/१०, ३/५८/८; १/११५/३; ४/५१/५; १/११२/१३

⁵ ऋ. ८/५/३०; ८/८/७, ८/८/४; ८/९/१२, ८/८/३; ८/१०/१; ५/७३/१

⁶ ऋ. ८/२६/१७; ७/७०/३०; ७/७२/५; ५/७४/२—३; ८/८/२३

⁷ ऋ. १०/६१/४; ९/२२/२; ८/९/९७ ८/५/२३/३४/१०; २/१५७/१; ७/७२/४

⁸ ऋ. १/३४/१; ३/३९/३; ७/७३/४; ७/७३/७ ८/३५/१६; ऐत.ब्रा. २/१५; शत.ब्रा. ५/५/४/१; ऋ. १/८२/१

अश्विन 'दिवो नपाता' हैं। उनमें से एक को मात्र एक बार द्यु का पुत्र कहा गया है। एक बार उन्हें सिन्धुमातरा बताया है। एक मन्त्र में उन्हें विवस्वान और त्वष्ठा की पुत्री सरण्यू का जुड़वा पुत्र बताया है।¹ विवस्वान और सरण्यू उदीयमान सूर्य और उषस् के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। सौर देवता पूषन उन्हें अपना पिता मानते हैं। उनकी भगिनी से उषस् का बोध होता है। सूर्य पुत्री सूर्या के ये दो पति हैं जिन्हें उसके वर रूप में चुना है। सूर्या या युवति उनके रथ पर तैरती है या उन्हें चुनती है। अश्वनी नाम की देवी को सूर्या ही समझना चाहिए। जिसका उल्लेख अन्य देवताओं के साथ भी हुआ है। जब सविता ने सूर्या को पति के हाथों सौंपा तब सोम उनके वधूयू थे² और अश्विन उसके वर थे एक मन्त्र में सूर्या को पूषन् के लिये दिया गया; कहा गया है। ये पुंस्त्वहीन पुरुष की पत्नी को पुत्र प्रदान करते हैं। ये प्रेमियों को परस्पर मिलाने भी हैं।³ परोपकार हेतु इनकी बार-बार प्रशंसा की गई है। ये नाव द्वारा समुद्र पार कराने वाले हैं। ये विपन्नों के सहायक दिव्य भिषग भी हैं। जो अपने उपचारों से रोगों को शान्ति करते हैं। अन्धों को दृष्टि प्रदान करनेवाले हैं।⁴ अंधों और लंगड़ों के वे तो सहारे हैं वे देव-भिषग भी हैं। उनके पास अमरता के लिये अमोघ रसायन है। वे अपने उपासकों की चिकित्सा ही नहीं उन्हें धन और पुत्र भी देते हैं।⁵ अश्विन् के जत्रि एवं जहित च्यवन ऋषि को वृद्धावस्था से उबार, दीर्घाजीवी बनाया। जीर्ण कलि भी यौवन को प्राप्त हुआ। ऋज्ज्राश्व को इन्होंने दृष्टि दी। पुरावृज के अंघत्व एवं खंजत्व को दूर किया।⁶ इस प्रकार ये देवता देव ओर मनुज के अनेकशः उपकारक हैं। ये शल्य चिकित्सक रूप में ख्यात हैं।⁷

दैवी भिषज् अश्विन् के आश्चर्य भरे कार्यों की कहानियों के कारण सम्भवतः बर्गेन आदि पाश्चात्य विद्वान् ने इनकी शक्तिमत्ता को मानवीय प्रतिरूप माना है। अश्विनो के भौतिक आधार के सम्बन्ध में ऋषियों का मन्तव्य अस्पष्ट प्रतीत होता है। यास्क की भाँति कुछ लोग इन्हें द्यु ओर पृथिवी मानते हैं। कुछ दिन और रात तो कुछ सूर्य और चन्द्र। जबकि ऐतिहासिकता के पक्षपाती उन्हें धार्मिक कार्य करने वाले दो राजा मानते हैं।

¹ ऋ. १/१४२/१; १०/६१/४; 'दिवो नपाताश्विनो हुवे वाम।'

ऋ. १/४६/२, ऋ. १/४६/२, दसा सिन्धुमातरा।'

² ऋ. १०/८४/१४; १०/१८०/२; ४/४३/६; १/११९/५; ७/६९/४; ५/७३/५; ८/८/१०; १/३४/५; १/११६/१७; १/११८/५; ६/६३/५; १/११७/१३; ७/८६/३; ५/६८/८; १०/८५/९

³ ऋ. ६/५८/४; १०/८५/२६; १०/१८४/२; १/११२/३; १/११६/१, अथर्व. २/३०/२

⁴ ऋ. १/११२/२, १/११८/३; १/४७/८, ४/४३/५; ८/९८/८; ८/२२/१०; १/११६/१६;

⁵ ऋ. १०/३९/३; अथर्व. ७/५३/१; तैत्ति. ब्रा. ३/१/२/११ ऋ. १०/३/९३,

⁶ ऋ. १/११६/२५; ८/८/१३; १/११६/१०; १०/३९८; १/११२/१५; १८/६५/१; ११७/२०; १/११५/२३; १/११७/७; १०/६५/१२; १/११६/११; १/११९/६-७;

⁷ ऋ. १/११२/८; १/११७/७; १०/४०/५; १/११६/२३; १/११७/७; ६/६२/७; १०/३९/७; १०/६५/१२; १/११६/६/६, ७, २२, १/११७/६;

⁸ निरुक्त, १२/१, शतपथ ब्रा. ४/१/५/१६

अथर्ववेद में अश्विनो :

ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्रों में कुछ मौलिक अन्तर है जो उनके विषय रूप देवताओं के स्वरूप को प्रभावित करता है। ऋग्वैदिक मंत्र यज्ञीय कर्मकाण्ड के साथ जुड़े हैं, जिनमें उनके विषय स्वरूप देवताओं का स्वरूप भी यज्ञ के परिप्रेक्ष्य में उभरता है। अथर्ववेद के मंत्रों का सम्बन्ध मानव जीवन के लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक विषय से सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि अथर्ववेद के मंत्रों के विषय से सम्बन्धित देवता का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप प्रायः दो भिन्न धरातलों पर उभरता सा प्रतीत होता है। यही कारण है कि यहां रहस्यात्मकता और सघन हो जाती है। यह रहस्य तब और महत्त्वपूर्ण बन जाती है जब मंत्रों का अभिधामूलक अर्थ कुछ और है और प्रयोगिक स्वरूप कुछ और होता है। इसी से नई व्यंजनाओं का स्रजन होता है। इन व्यंजनाओं को हम वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में प्रायशः उद्धृत 'परोक्ष प्रिया वै देवाः।'^१ के माध्यम से देखने से समझाने में अधिक सफल होते हैं। इस दृष्टि विशेष के विना मंत्रों की पूर्णता को समझना दुष्कर अवश्य हो जाता है। इस सन्दर्भ में कौत्स की उक्ति अधिक सार्थक प्रतीत होती है—'निरर्थको हि मंत्रः।'^२ यद्यपि यास्क ने इसका प्रतिवाद किया है—स्थाणुरयं भीरहरः किला भूत।^३ मन्त्र का समझाना भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद के मंत्रों पर और उनके प्रयोगिक सन्दर्भों से कौत्स का कथन अधिक प्रमाणित प्रतीत होता है। मंत्र के अर्थ और उसके प्रयोग की दृष्टि से अथर्ववेद में प्राप्त अश्विनो के विषय में निम्नवत् तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अथर्ववेद में कुछ ऐसे मंत्र भी हैं जो सीधे ऋग्वेद की परम्परा से सम्बद्ध परन्तु अधिकांश मंत्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद की अपनी शाखाओं से ही है। ऐसे मंत्रों में अश्विनो का परिवर्ती रूप ही दिखाई देगा। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में कुछ सूक्तों में अश्विनो का वर्णन प्राप्त होता है। एक मंत्र में कहा गया है कि मित्रावरुण, मरुद्गण तथा विश्वेदेव अश्विनो का आवाहन करें।^४ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदीय परम्परा में अश्विनो से प्रार्थना की गई है कि वे मधुपान के लिये अन्यदेवों का आवाहन करें। यह तथ्य अश्विनो के विकासात्मक महत्त्व को समझाने में सहायक हो सकती है। तीसरे काण्ड के ही एक अन्य मन्त्र में अश्विनो की प्रातःकालीन स्तुति में इन्द्र आदि अन्य देवों का भी आवाहन किया गया है। यहां ऋग्वेद के ही अनेक मंत्रों की ध्वनि सुनी जा सकती है। इसी काण्ड में अश्विनो के दर्बस की बात अग्नि और सूर्य के वर्चस्व^५ के साथ जोड़ी गई है और उन्हें 'पुष्करस्रजा'^६ कहा गया है। ऋग्वेद के अश्विनो के सौम्य रूप की चर्चा करता है कहीं भी उन्हें सूर्य और अग्नि के समानान्तर नहीं बताया है। किन्तु अथर्ववेद में अग्नि और सूर्य के वर्चस्व का मानव जीवन में आधान करने वाले

^१ ऐ.ब्रा. १/३/१८, शत.ब्रा. ६/१/१/२, ४/६/११/२, वृ.उ. ४/२/४, ऐत.आर. २/४/३

^२ निरुक्त : १/१५

^३ निरुक्त : १/१८

^४ अथर्व. ३/४४

^५ अथर्व. ३/१६/१ : प्रातरग्निं प्रातरिन्द्र हवामहे.....।

^६ अथर्व. ३/२२/४

अश्विनौ ही है। स्तुति करते हुये उनसे असीम तेज प्रदान करने की अभ्यर्थना की गयी है।¹

अथर्ववेद दुरति, दुर्भाग्य, पाप, ताप, शाप निर्वृति आदि के निवारण के लिये पायः प्रसिद्ध है। इनके निवारणार्थ अनेक देव प्रार्थनाएँ इसमें प्राप्त होती हैं। अश्विनौ भी इन देवताओं के साथ निर्वृति निवारण में सहायक कहे गये हैं।² इसी प्रकार वे गर्भ धारण करने वाले देवता भी माने गये हैं।³ जो ऋग्वेद के पांचवे मण्डल के एक सूक्त से पर्याप्त मिलता है।

अथर्ववेद में सौमनस्य की कामना करने वाले अनेक सूक्त हैं। जब कभी भी परिवार या भाइयों में सौमनस्य की कमी होती है तो अश्विनौ की प्रार्थना से सौमनस्य के वातावरण की सृष्टि की जाती है। यह संभवतः इस कारण से है कि अश्विनौ दो सहोदर भाई माने गये हैं। उनमें कहीं भी सौमनस्य का अभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अथर्ववेद में एक ऋषि प्रार्थना करता है 'हे अश्विनौ ये दोनों भुजाएँ जैसे एक साथ संवर्तित होते हैं तुम भी मन से मेरी ओर सम्यक् प्रकार से प्रवर्तित हों। गुंथे हुये तृण की भाँति तुम्हारा मन भी मुझमें गुंथ जाय।'

अथर्ववेद में अश्विनौ का अह्वान शान्ति कर्म, पुष्टि कर्म, तुष्टि कर्म, पाप नाशक, रक्षोहण, वशीकरण, गर्भधारण आदि अनेक कर्मों से जुड़ा हुआ है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण उनका भिषग् रूप प्राण विद्या में समाहित होकर अथर्ववेदीय मधुविद्या के रहस्य को उद्घाटित करता हुआ उन्हें महत्त्वपूर्ण भिषगत्व से मण्डित करता है। मधुविद्या का रहस्य गोपनीय एवं असंभव कहा गया है, जिसकी अनेक अन्तर्कथाएँ ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्विनौ के साथ जुड़ी हैं। कहीं—'कहीं अश्विनौ अन्य ऋषियों से मधुविद्या देने की याचना करते देखे जा सकते हैं। इन स्थानों पर ऋषियों से अश्विनौ की मूल्यवत्ता कम हुई है। अथर्ववेद के गंभीर अध्ययन के परिणाम स्वरूप कहा जा सकता है कि अश्विनौ स्वयं प्राणविद्या और मधुविद्या के ज्ञाता ही नहीं प्रवर्तक भी हैं। उन्हीं से परम्परा से अन्य ऋषियों ने ये रहस्य जाने। अनेकानेक औषधियों के ज्ञाता और उनके प्रयोग के माध्यम से वे जन समूह के रोगनिवारक हैं सूक्ष्म प्राणों के संचालक और इस विद्या के रहस्य के अधिष्ठाता हैं।

अथर्ववेद का मुख्य विषय अभिचार कर्म भी है। इस कर्म के अन्तर्गत भरण, संमोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण और वशीकरण जैसे षट्कर्म प्रधान है। इनके साथ और भी विषयों का सन्निवेश अभिचार कर्म में किया जाता है। जैसे रोगशमन, पति पत्नी आनुकूल्य, सौजन्यमनस्य, शत्रुपराजय, राजा की पुनः स्थापना आदि अनेक मंत्र अथर्ववेद में प्राप्त हैं। यथार्थ में अथर्ववेद जनसामान्य का वेद

¹ अथर्व. ३/२२/४ :

यत् ते वचो जातवेदो बृहद् भवत्याहुते ।.....

तावन्मे अश्विना वर्च आ घत्तां पुष्करस्रजा ॥

तथा—

६/६९/३; ९/१/११; २०/१३९/२

² अथर्व. ४/३/९: 'आदित्या रुद्रा अश्विनो भा देवाः परन्तु यजमानं निर्व्रयात्।'

³ अथर्व. ५/२५/३

⁴ ऋग्वेद : ६/१०२/१—२

है। यद्यपि इन विषयों से सम्बन्धित मन्त्र ऋग्वेद में भी प्राप्त है किन्तु उनका संयोजन एवं विनियोजन वहाँ उस प्रकार से नहीं है।

जिस अभिचार कर्म के मंत्रों का समबन्ध अश्विनौ से है वे अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के तीसवें सूक्त में प्राप्त हैं। यहाँ कामिनी के मन के अभिमुखीकरण में विनियुक्त मंत्र हैं। इसके द्वितीय मंत्र के देवता अश्विनौ है जिनसे अभिलषित कामिनी का चित्त अनुकूल करने की चर्चा है।^१ यहाँ अश्विनौ के साथ औषधियाँ भी देवता हैं जिनसे अश्विनौ का सामीप्य उल्लिखित ही दीर्घायु प्राप्ति हेतु सोमरस प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।^२ यहाँ 'सावासिनौ विशेषण महत्त्व का है। ऋग्वेद में यह विशेषण प्राप्त नहीं है। इसके दो अर्थ सम्भव हैं। एक साथ-साथ रहने वाले। दूसरा एक ही वस्त्र में आच्छादित। अभिचार कर्म में प्रत्येक शब्द एवं उसका प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। शब्दानुकूल्यता ही अभीष्ट सिद्ध करती है। एक स्थान पर परस्पर ज्ञान प्राप्त करने की प्रार्थना एवं शत्रुओं का ज्ञान भी प्राप्त हो ऐसी कामना संवेदनात्मक शक्ति की गई है।^३

अथर्ववेद अश्विनौ को जहाँ एक ओर परम्परागत रूप में प्रतिष्ठित करता है वहीं अनेक संदर्भों में उनके साथ अनेक नवीन उद्भवनाओं को भी संयुक्त करता है, जिससे उनका स्वरूप अधिक व्यापक हो जाता है। आधुनिक विज्ञान अश्विनौ देवों में आज 'बिजली' उत्पादक दोनों फेज़ के रूप में उनकी खोज करने में प्रयासरत है।

^१ अथर्व. : २/३०/२ : सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

^२ अथर्व. : २/२९/६ : सावासिनौ पिवतां मन्थमेतमश्विनौ रूपं परिधाय मायाम् ।

^३ अथर्व. : २/२९/६

मरीचि

जिस प्रकार जिह्वा के सभी भाग सभी रसों का आस्वादन नहीं कर पाते उसी प्रकार वैदिक विज्ञान से प्रतीत होता है कि सूर्य की सभी किरणें समस्त अपेक्षित एवं विविक्षित कार्यों का सम्पादन नहीं करतीं। मरीचि सूर्य की किरणें विशेष हैं। यह तो एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूर्य में से आठ प्रकार की उपयोगी किरणें प्राप्त होती हैं। हमारा विनम्र मत है कि 'मरीचि' उन्हीं आठ किरणों में से ही कोई एक है। कुछ विद्वान् 'मरीचि' को मरुत् के ४९ प्रकार की मरुतों में से एक मानते हैं। दोनों दृष्टियों से मरीचि का वैदिक वैज्ञानिक सत्य जानने का प्रयास किया जायेगा।

मरीचि किरण का कार्य अन्य किरणों की भाँति नहीं है। निघण्टु के भाष्यकार पं. देवराज यज्वा ने मरीचियों का निर्वचन करते हुये 'मृड' प्राण त्यागे धातु से मरीचि शब्द की सिद्ध की है। उन्होंने मरीचि को किरण मानते हुए लिखा है कि मरीचि में अंशकार का अवसान होता है; अतः इसे मरीचि कहते हैं।^१ वैदिक इण्डेक्स में मैक्डोनेल एवं कीथ ने वेवर का मत अंकित किया है। वेवर के अनुसार 'मरीचि' बहुवचन में उन ज्योतिकणों और चमकदार कणों का द्योतक है जो प्रकाश रश्मियों के विपरीत वायुमण्डल में व्याप्त रहते हैं। यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'यही अर्थ' आरम्भिक वैदिक साहित्य के उन सीलों के भी अनुकूल है जहाँ यह शब्द प्रयोग होता रहा है। उपनिषदों में रश्मि का प्राचीन आशय भी स्पष्ट रूप में मिलता है। इस टिप्पणी में वैदिक इण्डेक्स का आशय आरम्भिक वैदिक साहित्य से ऋग्वेद की शाकल्य संहिता १०/५७/१२; १७०/१; अथर्ववेद की शौनकीय संहिता ४/३/८५; ५२१/१०; ६/११३२ तथा तैत्तिरीय संहिता ६/५/५/५ से ही है। उपनिषदों से उनका आशय तैत्तिरीय उपनिषद् १/१/२; २/१ तथा मैत्रायणी उपनिषद् ६/३१ तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य से उनका आशय ऐतरेय उपनिषद् १/२ से ही प्रतीत होता है।^२

वैदिक इण्डेक्स के उपर्युक्त प्रकरण पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त किसी पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय विज्ञान को समझा ही नहीं है। वेवर का उपर्युक्त मत 'ज्योतिकणों' जो प्रकाश रश्मियों के विपरीत वायुमण्डल में व्याप्त रहते हैं नितान्त भ्रामक है। वस्तुतः मरीचि सूर्य की विशेष किरणें ही हैं। वैदिक साहित्य का प्रारम्भिक एवं उत्तरकालीन विभेद करना भारतीय साहित्य से अनभिज्ञता या वि-क्रम दृष्टिकोण का ही परिणाम है। वैदिक साहित्य में कहीं भी अन्तर्विरोध नहीं है। वैदेशिक दृष्टि ही स्वोद्देश्य साधक है।

^१ निघण्टु भाष्य : पं. देवराज यज्वा. १/४/११ मरीचियः। मृड प्राण त्यागे (तु. आ) मृकणिम्यामीचिः (उ. ४/७०) इति ईचिः प्रत्ययः। भ्रियते तमोऽस्मिन्निति मरीचिः रश्मिः। अत्र मरीचि शब्देन मरीचिमान्- सूर्य उच्यते। मत्त्वर्थो यस्य लुक साहचर्यम् भाव्यते। मरीचिमत्सूर्यमण्डलं पान्ति मरीचियाः आतोऽनुपसर्गेकः (अ. ३/२/३)। देवेभ्यस्तवा मरीचियेभ्यः। (यजु.वाज.सं. ७/३) इति निगमः।

^२ वैदिक इण्डेक्स अनु. रामकुमार राय, चौखम्बा संस्करण, भाग-२, पृ. १५०

वैदिक इण्डैक्स की टिप्पणी में ऋग्वेद शाकल्य संहिता १०/५७/१२ पर प्राप्त मरीचि शब्द की ओर संकेत किया गया है। इस सन्दर्भ पर उक्त आशय का कोई मन्त्र नहीं है। ५७वें सूक्त में केवल ६ मन्त्र हैं। ऋग्वेद शाकल्य संहिता में मरीची शब्द का मात्र एक बार प्रयोग हुआ है। (१०/५७/१२) तथा मरीचीनाम् पद १०/१७७/१, पर एक बार मिलता है।^१

आचार्य सायण ने कथित 'यत् ते मरीची प्रवतो.....' मंत्रांश का अर्थ 'प्रवतः प्रगच्छतीर्मरीचीर्दीप्तोर्जगाम' करके उसे गतिमान प्रकाश स्वीकार किया है। इसी प्राकर 'मरीचीनां' पद का अर्थ सायण ने मरीचीनां पदमिच्छन्ति' मंत्रांश का अर्थ मरीचीनां रश्मीनां पदं स्थानं सूर्यमण्डलमिच्छन्ति' किया है। हाँ स्पष्टतः मरीचि को रश्मि (किरण) स्वीकार किया गया है। रश्मियों का पद (स्थान) सूर्य मण्डल है। अथर्ववेद के शौनकीय संहिता के कथित मंत्र निम्नवत् हैं—

१. सूर्यस्य रश्मीन् नु या संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति ।
या सामृषयो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान्पदैतिरक्षन् ॥
स न ऐतु होममिमं जुषाणो अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ (४/३८/५)
२. आदित्य चक्षुरा दस्त्व मरीचयोऽनुधावता ।
पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ (५/२१/१०)
३. मरीचधूर्मान्प्रविशाबु पाप्मन्तुदारगच्छेत वा नीहारन् ।
नदीनां फेनां अनुतन्वि नश्य भूणाघ्निपूषन्दुरिता नि मृश्व ॥ (६/११३/२)

अथर्ववेद के पाश्चात्य भाष्यकार ग्रिफिथ ने इन मंत्रों के प्रथम मंत्र के अंश 'मरीचीर्वा अनुसंचरन्ति' का अर्थ 'A particle of light attended him' किया है। तथा दूसरे मंत्र के इसी पद के लिये प्रथम मंत्र के अर्थ की भाँति Particle of light ही किया है। स्पष्ट है कि मैकडोनली एवं कीथ का विचार ग्रिफिथ की तरह ही है जो मरीचि को ज्योतिकण मानते हैं किन्तु आश्चर्य है कि कीथ ने तैत्तिरीय संहिता^२ के भाष्य में मरीचिणां का अर्थ— 'The gods that drink the rays are the rays of Sun.' किया है। प्रतीत होता है कि वे मरीचि को किरण ही मानते हैं।

प्रश्नोपनिषद्^३ में भी इन्द्रियों के सम्बन्ध में किरणों का दृष्टान्त देते हुए लिखा है कि जैसे अस्त होते हुये सूर्य की समस्त किरणें इस तेजोमण्डल में एक हो जाती हैं और वे सूर्योदय होने पर पुनः सर्वत्र फैल जाती हैं। अन्य उपनिषदों में भी इसी भाव की श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं।

^१ ऋ.शा. सं. १०/५७/१२ : यत् ते मरीचीः प्रवतो मनोजगाम दूरकम्।

तत् ते आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ तथा—

पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः ।

समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेषसः ॥

^२ कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता : ६/४/५/५ : "त्वा सुभवाः सूर्यायेत्याह प्राणावै स्व मनसो देवास्तेष्वेव परोक्षं जुहोति, देवेभ्यस्त्वा मरीचियेभ्य इत्यादित्यस्य वै रश्मयो देवा मरीचि पा स्तेषां तदज्ञभागधेयं तानेव तेन प्रीणाति ॥"

^३ प्रश्नोपनिषद् : ४/२ " तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यात् गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजो मण्डल एकीभवन्ति । ता पुनः पुनरुदयतः पचरन्ति ।

छान्दोग्योपनिषद् में आदित्य (सूर्य) को देवों का मधु बताते हुये मरीचियों को उसका (सूर्य का) पुत्र बताया है। सूर्य से किरणों का विस्तार होता है। अतः वही किरणें (मरीचि) ही सूर्य पुत्र हैं।^१ शतपथ ब्राह्मण के सायण भाष्य में वायु एवं अन्तरिक्ष की आदि सृष्टि को प्रजापति को प्रजापति की चित्याग्नि रूपता कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली ही ऐसी है कि यज्ञ प्रक्रिया का वर्णन करते हुये उसमें सृष्टि के अनेक सूक्ष्म तत्वों एवं रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। ये रहस्य अभी तक भी दुर्विज्ञेय बने हुये हैं। मनीषियों से गम्भीर गवेषणा भी अपेक्षा ऐसे अनेक पक्ष रखते हैं।

सायण भाष्य के अनुसार भूमि स्रजन के अनन्तर प्रजापति ने यह कामना की कि यह जगत् और अधिक हो। अग्नि से पृथ्वी को मिथुनत्व से समायोजित किया। उन दोनों के संयोग से अण्ड उत्पन्न हुआ। तब विमर्श बिना कि यह नाना प्रकार से पुष्ट हो ऐसा प्रजापति ने अण्ड को तीन बार अभिलक्षित करके कहा। जो गर्भान्तर में उत्पन्न हुआ वह वायुत्व से सृजित हुआ। जो गर्भोदक कपाल से लिप्त रस था। उस कपाल से तीन लोक—पक्षि, मरीचि और अन्तरिक्ष हुये। यहाँ तक ब्रह्माण्ड के कपाल से मरीचि का स्रजन एवं रस से उसका सम्बन्ध बताया गया है। तैत्तिरीय संहिता ६/४/५/५ की भाँति ही मैत्रायणी संहिता^२ ४/५/५ में भी रश्मियों को मरीचियः कहा गया है। मरीचियः ह्यलोकस्थ होने से देव कही गयी हैं।^३ पं. देवराज यज्वा सूर्य को मरीचिमान कहते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि सूर्य मण्डल की रक्षा करने के कारण ये किरणें मरीचियाँ कहलाती हैं।

यह निश्चय हो जाने पर कि मरीचि किरणें ही हैं तो उनका लौकिक उपयोग किस प्रकार हो रहा है। उनका विश्व में कहाँ प्रभाव है। एतदर्थ तैत्तिरीय आरण्यक की श्रुत दृष्टव्य है।^४ आचार्य सायण ने लिखा है कि जगत् के आरम्भ में सर्व व्यवहार की कारण भूत किरणों या रश्मियों को सूय ग्रहण करता है। उस किरण के पाक विशेष से पदार्थों का परिपाक होता है। परिपाक होने पर काण्ड(शाखा)उत्पन्न होने लगते हैं। पाक क्रिया होते रहने पर ही काण्ड (शाखा) के उपरान्त पुत्र पुष्प, उत्पन्न होते हैं एवं पाकान्तर से ही उस पर फल आने लगते हैं। यह क्षण मुहूर्त आदि कालों के निश्चय करने में भी सहायक हैं।^५

^१ छान्दोग्योपनिषद् : ३/३/१ “असी वा आदित्यो देव मधु । तस्य द्यौरिव तिरश्चीन वंश ।

अन्तरिक्षमयूपः मरीचयः पुत्राः ।

^२ कृष्णयजुर्वेद मैत्रा. संहिता : ४/५/५ : “देवेभ्यस्त्व मरीचियेभ्य आदित्ये समयो वै देवा मरीचिया, परिषिषो रश्मयोऽसा आदित्या आहवनीया स्तानेव प्रीणाति ।”

^३ निरुक्त : ७/४/१५ : देवो दानाद्वा दीपनाद्वा ह्युस्थानो भवतीति वा ।

^४ तैत्ति. आरण्यक १/२ : सूर्योमरीचिमादते । सर्वस्मादभुवनादधि । तस्या पाक विशेषेण । स्मृतं काल विशेषणम् ।

^५ सायण भाष्य : अयं सूर्यो जगदाद्यौ मरीचि सर्व व्यवहार हेतु भूतं कांचिद्रश्मिमादते कुत्राऽऽदत इति, तदुच्यते सर्वस्मादभुवनादधि सर्वस्य भूतजातस्योपरि रसवीर्यविकारादिभिः सर्वभूतगतामनुग्रहीतुमित्यर्थः। तस्या मरीचिः पाक विशेषेण तत्कृतेन पदार्थ परिपाकतार तन्धेन काल विशेषेण मस्माभिः स्मृतं भवति । प्रथमं तावद्दीर्घं मरीचि कृतेन केनचित्ताकेनङ्कुरीभवति स चाकरः पाकान्तरेण काण्ड भवति । तच्च काण्डपाकान्तरेण पुत्रपुष्पपुत्पादयति तच्च पुष्पं पाकान्तरेण फलीभवत्येव कालकृत तत्तत्पदार्थावस्था.....। क्षण-मुहूर्तविसर्पक्षमासादि रूपाः अस्माभिर्निश्चीयते ।....

मरीचयः (मरुतों में एक) :

कुछ भारतीय वेद के विद्वानों का मानना है कि वायु के साथ मरीचियों का जन्म हुआ। इनका पिता अग्नि है। यही कारण है कि इनमें आग्नेय अंश विद्यमान है। जैमिनीय ब्राह्मण में इनकी चिंगारियों से उपमा दी गयी है। 'मरीचयों विस्फुलिङ्गाः' भगवत् गीता में जहाँ कृष्ण ने विभिन्न वस्तुओं से श्रेष्ठतम के साथ अपना सम्बन्ध प्रकट किया है वहाँ वे मरुतों में स्वयं को मरीचि बताते हैं।^१ भगवत् गीता में जहाँ कृष्ण ने विभिन्न वस्तुओं से श्रेष्ठतम के साथ अपना सम्बन्ध प्रकट किया है वहाँ के मरुतों में स्वयं को मरीचि बताते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ४९ प्रकार के मरुतों में मरीचि सर्वश्रेष्ठ है।

मरुतों के सम्बन्ध में निम्न बातें वैदिक साहित्य में अति स्पष्ट हैं :

- (क) मरुतों के गण हैं। 'गणं' मारुतं।^२ यजुर्वेद २४/१६ में सान्तपन, गृहमेधी, और क्रीड़ी; तीन प्रकार के मरुतों का उल्लेख मिलता है।
- (ख) मरुत् आपः कणों की विद्युत युक्त रश्मियाँ हैं। ऋग्वेद^३ ने उन्हें वातत्विषः^४ बात की दीप्ति वाले बताया है। उनकी दीप्ति सूर्य किरणों की भांति है। अतः ऋग्वेद में उनकी तुलना 'सूर्यस्येव रश्मयः' कह कर की है। ताण्ड्य ब्राह्मण मरुत को रश्मि रूप मानता है। हो सकता है कि मरुत् विद्युतयुक्त किरणें हों। ऋग्वेद भी उन्हें विद्युत युक्त मानता है।^५ यास्क ने निरुक्त के अध्याय ११ में मरुतोंको 'प्रथमागामी' लिखा है। उन्होंने जो ऋग्वेद की ऋचा उद्धृत की है उसमें मरुतों का विशेषण 'विद्युन्मद्भिर्मरुतः' तथा दूसरा विशेषण 'स्वर्कै' मिलता है।^६ मरुत कण जब तक विद्युत युक्त न हों तब तक ऐसे रूप को धारण नहीं कर सकते। संभवतः यह उनका शाश्वत रूप है। केवलमेघों के समय का नहीं।

अपने महान् अज्ञान के कारण वेदों में वर्वर (Primitive) ज्ञान समझा कर वेदों में विद्युत (Electricity) के ज्ञान का अभाव मानकर मैक्डोनाल्ड ने मरुतों का सम्बन्ध तडित (Lightning) से जोड़ा है — They are very often associated with lightning : all the fine compounds of vidyut in the R.V. are almost exclusively descriptive of them.^७ जिन मंत्रों में दिव्य आपः का वर्णन है, जिन मंत्रों में अग्नि के हृदय के आच्छिन्दन का कथन है जिन मंत्रों में वातरश्मियों का उल्लेख है उनमें विद्युत का ज्ञान नहीं है यह कोई अज्ञानी ही

^१ जैमि. ब्राह्मण १/४५

^२ भगवत्गीता १०/२५, मरीचिः मरुताम् अस्मि ।

^३ ऋग्वेद : ५/५३/१०, यजुः २३/४५, 'मारुतं गणं ।' तथा ७४३७ 'सगणो मरुद्भिः ।

ताण्ड्य ब्रा. १९/१४/२, गणशो हि मरुत । शतपथ ब्रा. ९/३/१/२४, 'सप्तसप्त हि मारुता गणाः ।

^४ ऋग्वेद : ५/५७/४ :

^५ ऋग्वेद ५/५/४२ : 'सं विद्युता दधति तथा ५/५/५४, में विद्युन्महसः ।

^६ ऋग्वेद : १/८८/१

^७ वैदिक रीडर, पृ. २१

कह सकता है। वस्तुतः मरीचि आदि मरुत स्पष्टतः रश्मियों का ही बोध कराते हैं।

(ग) अन्तरिक्ष आपः से व्याप्त है, ये मरुत भी उसी आपःमें रहते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण^१ के अनुसार 'अप्यु वै मरुतः श्रिता ।' आपः में निश्चय मरुत आश्रित है। ऐतरेय ब्राह्मण तो आपः ही मरुत है यह मानता है।^२ वस्तुतः आपः अग्नि और पृथ्वी के योग से मरुतों का जन्म होता है। रूद्र (अग्नि) मरुतों के पिता है।^३

मरुतों के लिए जो वैदिक विशेषण^४ प्रयुक्त हुए हैं 'रिशादसः—' भ्राजत ऋष्टवः, रुक्मवक्षसः, हिरण्य शिप्रा, ऋष्टि विद्यत् । विद्युत और अशानि से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण^५ में मरुतों की आन्तरिक्षी माया का रहस्य उद्घाटित हुआ है। मरुतोऽद्भिर्अग्निमतमयम्। तस्य तान्तस्य हृदम्—आच्छिन्दन। सा अशानिस्मवत् ।

मरुतों के आपः से अग्नि ज्वाला को शान्त किया। उस शान्त ज्वाला अग्नि के हृदय को उन मरुतों ने तोड़ा या काटा वह अशानि हुई। इसी तथ्य का अनुमोदन कपिष्ठल संहिता^६ में भी किया गया है। 'तस्य मरुत स्तनयितुना हृदयमाच्छिन्दन। यह दिव्य अशानि हुई। अशानि और दिव्य अशानि' में अन्तर है। अशानि मरणधर्मी है और दिव्य अशानि अमर। दिव्य अशानि की अमरता का विज्ञान जानने योग्य है। अग्नि के प्रत्येक कण के मध्य को अन्तरतम परमाणु रूप अंश है, वही उसका हृदय है। उस हृदय (Electron) के टूटने से अशानि उत्पन्न होती है। अग्नि हृदय पद का अन्य अर्थ असम्भव है। बृहस्पति संहिता में उल्काओं के अनेक रूप कहे गये हैं।^७ इन उल्काओं में अशानि सबसे बलवती है। अशानि जो धरातल को भी भेद देती है वह महाचक्र की भांति नभस्थल से आती है।^८

विद्युत के भी अनेक भी अनेक भेद पराशर ने कहे हैं। विद्युत पूर्व दिशा में सूर्यकान्ता दक्षिण में शतहृदा, पश्चिम में तडित और उत्तर में सौदामिनी होती है।^९ ये भेद तथा अन्य आवान्तर भेद मरुतों के कारण ही बनते हैं। वार्नेट महोदय विद्युत और चुम्बक दोनों को पृथक् नहीं मानते। 'A current of electricity is always surrounded by a magnitic field.....thus electricity and

^१ कौषीतकी ब्रा. ५/४

^२ ऐतरेय ब्रा. ६/३०

^३ ऋग्वेद १/८५/१ — 'रूद्रस्य सूनवः ।'

^४ यजु. ३/४४; १/३१/१; २/३४/२ २/३४/३ क्रमशः

^५ तैत्ति. ब्रा. १/१/३/१२

^६ कपिष्ठल सं. ६/७

^७ बृहस्पति संहिता : तारा धिष्ण्यास् तथोल्काश्च विद्युतोऽशनयस्तथा।

विकल्पाः पंचधा वैषां परस्पर बलीतराः ॥ (अद्भुतसागर, पृ. ३२२)

^८ अद्भुत सागर, पृ. ३२४ पर उद्धृत—'पतन्त्यशनयो दीप्ताः स्फोटयन्त्यो धरातलम् । वही, पृ. ३५०

magnetism may be considered as a single force.”¹ श्री वार्नेट के कथन में शून्य (space) का भाव भ्रामक है। वास्तव में अन्तरिक्ष में ‘अग्निषोम’ के अनेक रूप काम करते देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद² में मरुतों को अयोदंष्ट्र और हिरण्य चक्र कहा है। हमारा विनम्र मत है कि अयोदंष्ट्र और विद्युत शक्तियों से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के कारण दिशाएँ स्थिर हैं।

मरुतों में छन्द (waves) होते हैं। मरुतों के छन्दों के विषय में ताण्ड्य ब्राह्मण का कथन है — मरुत्स्तोमा वा एषः। यानि क्षुद्राणि छन्दासि तानि मरुताम् । (१७/१/३) ‘मरुतो की गति की दिशा के सम्बन्ध में जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि, ‘ततो मरुतोऽसृज—ईशानमुखान्’ (३/३८१) ऋग्वेद³ भी मरुतों को ईशानकृत कहता है। ईशान अवान्तर दिशा है और रुद्र (विद्युत) का स्थान है। स्पष्ट है कि मरुतों में विद्युत प्रभाव है।

निष्कर्ष यह है कि मरुतों के जन्म में अग्नि और विद्युत का भाग विशेष है। यहाँ पृश्नि का पूरा विज्ञान अनुसंधान का विषय है। प्रश्न है कि क्या मरुत और मरीचियों का जन्म एक साथ हुआ? मरीचि जन्म के विषय में शतपथ ब्राह्मण⁴ के अनुसार आण्ड से मरीचि जन्में मरुत अन्तरिक्ष से जन्में, अन्तरिक्ष शनैः शनैः बना। स्पष्ट है कि मरीचि और मरुत साथ-साथ नहीं जन्में। कालान्तर में इन दोनों का पारस्परिक व्यवस्थापन हुआ। तैत्तिरीय संहिता पृश्नियों के दूध से मरुतों की उत्पत्ति मानती है।

इस प्रकार मरीचि का सम्बन्ध सूर्य की इलैक्ट्रिक किरणों से है। यह गवेषणा का विषय है।

¹ The universe and Dr. Einstein, pg. 15

² ऋग्वेद : १/८८/५

³ ऋ. १/८७/४; १/६४/५

⁴ शतपथ ब्रा. २/६/१/२, २११... अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता मरीचयोऽभवन्। इसके अनुसार सृष्टि क्रम में तथा ६/१/२/३

सोम-चन्द्रमा

सृष्टि के प्राचीन भारतीय सन्दर्भ :

श्रौतयागों में सोमयज्ञ वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से प्रमुख कर्म है। ऋग्वेद के नवम मण्डल के समस्त ११४ सूत्र एवं अन्यत्र भी छः सूक्त सोम के निमित्त प्राप्त होते हैं। कुछ सूक्तों में अंशतः सोम का स्तवन हुआ है तो कहीं कहीं इन्द्र अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देव युग्म के रूप में भी सोम या चन्द्र का स्तवन हुआ है। सोम तीसरे महत्त्वपूर्ण पृथ्वी स्थानी देवता हैं जिनके नाम का सर्वाधिक नामोल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। सोम का मानवीय विग्रह बोधक विम्ब इन्द्र एवं वरुण की अपेक्षा कम विकसित हुआ है। चन्द्र के वानस्पतिक रूप की वलवती अवधारणा ने ऋषियों एवं कवियों की दृष्टि की कल्पना को सीमित कर दिया प्रतीत होता है। यही कारण है कि मानवीय अवधारणा एवं उसके तत्कालिक वर्णन की न्यूनता वेदों में देखी जा सकती है। चन्द्र से सम्बन्धित कथित अद्भुत या वीरोचित कृत्य या तो नीरस है या अन्य देवों की भाँति ही है। सोम या इन्दु नाम से इस देवता को यज्ञ में आह्वान करते एवं बर्हि (कुशासन) पर बैठकर हविष्य स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।^१ नवम मण्डल में प्राप्त चन्द्र वर्णन मुख्यतः स्थूल सोम का गुणगान ही है। यज्ञ में पाषाणों से इसका सवन किया जाता है। सोम-रस निर्माण की कथित पद्धति अत्यन्त अस्तव्यस्त, विभिन्नता युक्त और कल्पनाओं से पूर्ण प्राप्त होती है। सोम के पार्थिव पौधे को निचोड़कर निकाला गया रस 'सोमरस' कहा जाता है। सोमलता के पेय्य अंश को 'अंशु'^२ कहते हैं। ये अंशु फूलकर गोमय के समान झाव टपकाता है।^३ सोम लता (डण्ठल से रहित) को अंधस कहा गया है।^४ यह स्वर्ण से 'श्येन' द्वारा लाई गई कही गयी है।^५

सोम पद का प्रयोग द्रव के लिये भी किया गया है, जो इन्द्र देव से भिन्न है।^६ एक सूक्त में इस द्रव को पितु (पेय) कहा गया है।^७ सोम का उल्लेख अन्न के साथ अनेक बार आया है।^८ मधु सोम समकक्ष पेय था। सोम का दिव्य पेय (अमृत) अर्थ भी प्राप्त होता है। (ऋग्वेद — ५/२/३), वाजसनेयि संहिता ६/३४, शतपथ ब्राह्मण, ९/५/१/८ 'तद् यत्तदमृतं सोमो सः' सर्वाधिक बार सोम के लिये व्यवहृत लाक्षणिक नाम इन्द्र है तथा 'द्रप्स' भी कहा गया है। (वाज. सं. १९/७२, ऋ. ४/२६/५; ६/३०/३, ९/१०२, १२; ९/९६/८) सोम बहुवच

^१ ऋ. १/९४/१४ : तत् ते भद्रं यत् समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो । तथा ७.५.१

^२ ऋग्वेद ९.६७.२८

^३ ऋग्वेद ८.९.१९

^४ ऋ. १०.९४.८

^५ ऋ. ५.४९.९; ९/८६/६, १०/१४४/५

^६ ऋ. ९/४१/३, १०/११५/३

^७ ऋ. १/१८७/१

^८ ऋ. ८/४/१२; शतपथ ब्राह्मण १/६/४/५ 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा

या सहस्रचक्षु बताये गये हैं।^१ सोम पितरों से सम्पुक्त हैं और पितरों का सोम प्रिय भी कहा गया है।^२ सोम इन्द्र के कल्याणकर्ता मित्र हैं। क्योंकि वे इन्द्र के ओज को प्रकाशित करते हैं। वृत्रासुर वध में उनका हाथ बटाते हैं।^३ सोम को इन्द्र का वज्र भी कहा गया है। वे वृत्रघ्न और पुरन्दर हैं।^४ मूलतः इन्द्र का यह विशेषण सोम के लिये छः बार प्रयुक्त हुआ है। सोम सूर्य को भासमान बनाते हैं। उसी ने आकाश में स्थित प्रकाश को चमकाया और सलिल में सूर्य को उत्पन्न किया। सोम ने सूर्य को उदित किया, प्रेरित किया, प्राप्त किया और प्रदान किया और उषाओं को भास्कर बनपाया। वे अपने उपासकों को सूर्याश दिलाते और उसका प्रकाश फैलाते।^५ सोम दिशाओं के अधिपति हैं। वे स्वर्ग और पृथिवी का जनन और स्थापन करते हैं।^६ सोम विजयी, अग्रणीयोद्धा और भीषण भी हैं। मानवरक्षक सोम यातुधानों को ध्वस्त करते हैं। इन्हें रक्षोह्न की उपाधि प्रदान की गई है और अन्यत्र 'अंशशंसा' विशेषण दिया गया है।^७ योद्धा होने के कारण सोम अस्त्र सज्जित हैं। उनके अस्त्र दारुण और पैने हैं। उनका अस्त्र 'सहस्रभृष्टि' और धनुष 'अमोघ' है।^८ सोम इन्द्र के सारथी हैं। वे सारथियों में अग्रगण्य हैं। उनका दिव्य ज्योतिरथ या 'पूतरथ' है। उनके रथ की सुपर्ण घोड़ियाँ अनिल सदृश्य मनोजवा हैं।^९ प्रसंगतः सोम कभी-कभी इन्द्र के मित्र मरुत गण के साथ मिलकर आते हैं। मरुतगण सोम की परिचर्या इन्द्रवत करते हैं। वायु सोम के लिये सौख्यदायक और संरक्षक हैं। कुछ मंत्रों में सोम रहस्यमय प्रकार से वरुण के समान वर्णन किये गये हैं।^{१०} सोम का एक विशेषण 'भोजवत्' 'मुंजवत्' पर्वत पर उत्पन्न 'अर्थ' का बोधक है। उनका 'गिरिष्ठः' विशेषण पर्वतों को सोमपृष्ठ प्रदत्त संज्ञा तथा याज्ञिक प्रतीकवाद का परिणाम कहा जा सकता है।^{११} सोम में औषधिक शक्ति हैं। वे रोग शामक हैं। शरीर के रक्षक हैं। वे विचारों के स्वामी, सूक्तों के पिता, नायक एवं प्रणेता हैं। ये कवियों के नायक एवं पुरोहित में दृष्ट हैं।

^१ ऋ. १/७१/९; सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः । १/२६/५ हयंतं भूरिचक्षसम् । तथा १/६०/१, इन्द्रं सहस्रचक्षसम् ।

^२ ऋग्वेद १/९६/११; १/९७/३९; ८/४८/१३, शतपथ ब्रा. २/१/६/४ अथर्व. २/१२/५; ऋ. १०/१४/६

^३ ऋग्वेद : १०/२५/९; १/७६/२; १/६१/२२

^४ ऋग्वेद ' १/७२/७; १/७७/१/९/४७/३; १/८८/४

^५ ऋग्वेद : १/८६/२२; १/२८/५; १/३७/४; १/८५/९; १/४२/१; १/४/५; १/३५/१ १/५९/४;

^६ ऋग्वेद : ४/५८/११; १/८६/२८; १/११३/२; —आपवस्व दिशांपते ।' १/९०/१; ६/४४/२३, ६/४७/४;

^७ ऋग्वेद : १/९१/२१; १/६६/१६—१७; १/७८/४; १/४५/३, १/४९/४—५, १/५१/१; १/४८/३; १०/२५/७; १/२८/६; शतपथ ब्रा. १/६/४/५, 'स वै देवानां वसु।'

^८ ऋग्वेद : १/९६/१६; १/७६/२; १/६१/३०; १/९०/३; ६/४४/२२; १/८५/३; १/८६/४०

^९ ऋग्वेद : १/८७/९; १/९६/२; १/१०३/५; १/३/५; १/१११/३; १/८६/४५; १/६६/२६; १/८६/३७; १/८८/३; १/१०८/११; १/५४/१;

^{१०} ऋ. ६/४७/५; १/१/३, १०/८५/५; १/७७/५; १/९५/५; १/७३/३/९; १/४१/८

^{११} ऋग्वेद १०/३/१; १/४६/१; १/८२/३; अथर्व. ३/१/१०

स्वर्ण शिशु सोम 'सूर्याजा' भी कहा गया है। अथर्ववेद के अनुसार अमृत का मूल पर्जन्य के वीर्य में निहित बताया गया है। सोम अग्निवत् सदैव नया की उत्पन्न होता रहता है। सूर्यवत सोम भी सभी लोकों के ऊपर विराजते हैं। उनका आवास 'परमेव्योमन' में है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार तृतीय स्वर्ग में है। वे स्वर्ण की नाभि में 'अव्यंवार' में विराजमान है। वे सूर्य के साथ स्वर्ग में चलते हैं।^१ सोम ने ही समस्त वीरुषों को उत्पन्न किया। शतपथ ब्राह्मण में सोम के कारण ही वनस्पतियों को सौम्य कहा गया है। (ऋग्वेद १/९१/२२, शत. सौम्या औषधयः १/१२/१/१/२)। वे सरिताओं के राजा हैं। (ऋग्वेद ९/८९/२) बार-बार देवता कहे गये सोम को 'सुतदेव' संज्ञा भी मिली है। (ऋ. ९/३/६-७) सोम तीन आवासों वाले कहे गये हैं। (ऋ. ९/१०३/२) 'त्रिषधस्थ' तैत्ति. सं. ३/२/१/२ कात्यायन श्रौ. ९/५/१७/७/४ त्रिपृष्ठ सोम की विशिष्ट उपाधि है। (ऋ. ७/३७/१) सोम वह विन्दु है जो जलों में विकसित होता है। (ऋ. ९/८४/१०, ९/८९/२) सोम जलों का गर्भ है। (ऋ. ९/९७/४१; शत. ब्रा. ४/४/५/२१ अथवा पुत्र है। जल को इसकी माता भी कहा है। ९/६१/४)। वेदोत्तर साहित्य में 'सोम' चन्द्रमा का स्थाई नाम पड़ गया। धारणा है कि देवगणों द्वारा पान करने से वह क्षीण हो जाता है। तदनु सूर्य द्वारा आपूरित होकर आकाश में उभरता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम और चन्द्र में तद्रूप है।^२ यजुर्वेद में सोम नक्षत्र मण्डल से परिवेष्टित है। प्रजापति की पुत्रियाँ उसकी पत्नियाँ हैं। अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में सोम एवं चन्द्र पर्यायवाची से प्रतीत होते हैं। अनेक विद्वान इस मत से सहमत हैं कि ऋग्वेद केनवीन तम अंश (प्रथम और दशम मण्डल) के कुछेक मंत्रों में सोम और चन्द्र की तद्रूपता निश्चित है। कुछेक विद्वान सोम को पेय द्रव्य का मानवीकरण चन्द्रमा भी मानते हैं। संभवतः ब्राह्मणों को चन्द्रमा के सोम स्वभाव होने का रहस्य ज्ञात है। हिलेब्राइट महोदय इस तादात्म्य के समर्थक हैं। वे सोम का अर्थ नवम मण्डल को में लता नहीं; चन्द्रमा करनी के पक्षधर हैं वे सोम के रूप में चन्द्रदेव वैदिक धर्म का मुख्य केन्द्र मानते हैं। वे इन्द्र के महत्त्व को भी चन्द्र से कम मानते हैं। वेद के व्याख्याकारों ने भी चन्द्र और सोम को एक मानकर व्याख्याएँ की हैं।

सृजन और चन्द्रमा :

प्रजापति पुरुष से सर्वप्रथम भूमि उत्पन्न हुई।^३ तदनु अन्तरिक्ष और उसके वयांसि तथा मरुत आदि उत्पन्न हुये। उसके पश्चात् उसी प्रजापति के मूर्धा से आदित्य का जन्म हुआ। आदित्य उस समय प्रकाश और उष्णता का पूर्ण पुंज नहीं बन पाया था। वह सूर्य के रूप में नहीं था। पृथ्वी आदि की गतियाँ भी स्थिर नहीं हो पाई थीं। उसी समय आदित्य से चन्द्र का सृजन हुआ। यह

^१ ऋग्वेद : ९/३८/५; ९/९३/१; ९/८२/३; १/११/३/३; अथर्व. ८/७/२१; ९/८३/२; ९/८६/२२; ९/१२/८;

^२ ऋग्वेद : ९/८५/९; शत. ब्रा. ३/४/२/१३; द्दिवि हि सोमः १, ९/४५/३; ९/३७/३; ९/२७/५; १/१२/४; ९/८६/१५; ४/१२/४; ९/१७/३; ९/२७/५;

^३ अथर्व. ७/८१/६; ऐतरेय ब्रा. ७/११; शत. ब्रा. १/६/४/५

^४ अथर्व. ७/८१/३,४; ११/६/७; ऋग्वेद १०/८५/१:४; ६/४४/२१; ८/८२/८

चतुर्थ स्रजन था। यदि आदित्य सूर्य बन गया होता तो उससे निकलने वाला चन्द्र उष्णता युक्त होना चाहिए।

चन्द्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में माध्यन्दिन मुनि का प्रवचन यज्ञ के चयन प्रकरण में उल्लेखनीय है^१।

‘सोऽकामयत् । भूमएव स्यात् । प्रजातायेतेति । स आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत् । तत आण्डं सवर्तत । तद् अभ्यमृशात् । रेतो विवृहीति । ततश्चन्द्रमाडसृज्यत् एषस वै रेतः । अथ यदश्च संक्षरितमासीत्, तानि नक्षत्राण्यभवन । अथ यं कपाले रसो लिप्त आसीत् ता आवान्तरदिशोऽभवन् । अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन् ।’ (शत. ६/२/१/४) अर्थात् ‘प्रजापति ने कामना की थी कि अधिक आदित्य हों, प्रजा उत्पन्न करे। उसने आदित्य द्वारा दिव से मिथुन् सम्बन्ध जोड़ा। उससे अण्ड में होने वाला जन्मा। प्रजापति ने उस आण्ड को छुआ। कहा कि रेत को धारण कर। उससे चन्द्रमा सृजित हुआ। यह ही रेत है। तब जाँ अश्रु बहे वे नक्षत्र बने। फिर कपाल में जहो रस लिप्त था वे आवान्तर दिशायें बनीं। जो कपाल था वे दिशायें बनीं।’

यह सत्य अथवा तथ्य संस्कृत पुराणों ने ब्राह्मण ग्रन्थों से लिया है। वायु पुराण के अनुसार नक्षत्र, चन्द्र, और समस्त ग्रह सूर्य से उत्पन्न हुये^२। वर्तमान विज्ञान चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथ्वी से मानता है। चन्द्रमा के जन्म के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्व भाग में कहा गया है चन्द्रमा कृत्तिकाओं में उत्पन्न हुआ। क्या उस समय नक्षत्र बन गये। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का पूर्व कथन है कि नक्षत्र भी चन्द्रमा के साथ ही जन्में तब यहाँ कृत्तिका का क्या अर्थ है यह विचारणीय है।

चन्द्रमा की वर्तमान अवस्था के तीन कारण :

१. आह्लाद-गुण^३ : चन्द्रमा ने सर्वभूत गतं मन से आह्लादकारी प्रकाश का गुण पाया। ऋग्वेद में कहा गया है कि ‘चन्द्रमा मनसो जातः । (१०/९/१०) इस मंत्र की व्याख्या महाभारत के शान्ति पर्व^४ में प्राप्त होती है। जहाँ नर-नारायण नारद से कहते हैं— कि उसे देव से सर्वभूतगत मन उठता है। चन्द्रमा उसी मन से युक्त होकर प्रकाशगुणधारी बनता है। यही व्याख्या अन्यत्र भी प्राप्त होती है^५ कि तब जो वह मन था वह चन्द्रमा हुआ।

इस मन का संयोग चन्द्रमा से कैसे हुआ। इस व्यापक मन का संयोग चन्द्रमा में क्या परिणाम उत्पन्न करता है यह विज्ञान आज भी गवेषणा का विषय है। यद्यपि तंत्राचार में यह प्रायोगिक स्तर पर रहस्य उद्घाटित किये जाना स्वीकार किया जाता है। तथापि वह गुह्य विद्या है।

^१ शतपथ. ६/१/२/४

^२ वायुपुराण : ५०/९९; ५३/२८ ‘ऋक्षचन्द्रग्रहा सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः ।

^३ ब्रह्माण्ड पुराण : २/२४/१२० : शीत रश्मिः समुत्पन्नः कृत्तिकासु निशाकरः ।

^४ शान्तिपर्व अध्याय : ३५४/११; ‘तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतमनः ।

चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥

^५ जै.उप. २/२/२: ‘अथ यत्तन्मन आसीत् च चन्द्रमा अभवत्।

२. चन्द्रमा और सोम :

यद्यपि यह सभी प्रकरण पूर्व में विस्तार से विवेचित किया जा चुका है। तथापि शतपथ ब्राह्मण चन्द्रमा को सौम्य बताता है।^१ स्पष्ट करते हुये वहीं कहा गया है कि 'इन्द्र ने उस महान् मेघ (Nebulae) को दो भागों में भेदा। उसका सोम से 'आया-न्यक्त' सुसज्जित रूप था। उसको चन्द्रमा बनाया। यही वृत्र है जो चन्द्रमा है। इस व्याख्या की ध्वनि यह समझ में आती है कि वृत्र (Nebulae) की निर्माण सामग्री वही है जो चन्द्रमा है।

३. चन्द्रमा और पृथ्वी का आनामृत :

दिव्य आपः और सोम अमृत है। ये पृथ्वी की त्वचा पर ही अत्यल्प है। पृथ्वी के अन्दर या गर्भ भागमें ये नहीं है। अतः वह भाग अनामृत है। वही अनामृत पृथ्वी भाग चन्द्र में उस समय गया, जब चन्द्र पृथ्वी के अति समीप लुपे जाने की दूरी पर था। उस समय देव जन्म हो चुका था। उन देवों की कोई माया ही ऐसी घटी जिसके कारण वह पृथ्वी का पिछला भाग चन्द्र की ओर उड़कर गया। चन्द्र का वही कृष्ण भाग अब ज्वाला उगलने वाले मृतमुखों (Craters) के रूप में दिव्य चक्षु (Telescope) द्वारा देखा जा सकता है। वस्तुतः चन्द्र की मूल सामग्री में पार्थिव भाग नहीं था ऐसी वैदिक साहित्य की अवधारणा है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि देव निश्चित ही संग्रामकर रहे थे। वे बोले कि जो इसके लिये (पृथ्वी के लिए) अनामृत देव यजन है वह चन्द्रमा में रख देते हैं।^२ वही यह चन्द्रमा में कृष्ण (द्रव्य) है।^३

चन्द्रमा की उत्पत्ति और पाश्चात्य विवेक :

चन्द्रोत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वमान्य पाश्चात्य मत है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति पृथ्वी से हुई है। चार्ल्स डार्विन के पुत्र जार्ज एच. डार्विन का मत जार्ज मेमो लिखता है कि—"The separation of the Moon from the parent body of the Earth took place during a comparative the stage of evaluation."^३ अर्थात् चन्द्र पृथ्वी से पृथक् हुआ। इसके विपरीत इमेनुएल वेलीकोव्सकी महोदय ने लिखा है कि "The problem of the origin of the Moon can be regarded as disturbing to the tidal theory. Being smaller the Earth, the Moon completed earlier the process of cooling and shrinking, and the lunar volcanoes had already ceased to be active. It is assumed that the moon possesses a higher specific heat than the

^१ शतपथ ब्रा. २१/६/३/२४: चन्द्रमा सौम्यः ।' तथा १/६/६/१७, इन्द्रः तं (वृत्रं) द्वेषा अन्वभिनतस्य सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमा सं चकार । तथा १/६/४/१३, १८ 'अथ एष एव वृत्रो य चन्द्रमाः ।

^२ शत.ब्रा. १/३/३/१८, १९ : देवा ह वै संग्रामं सन्निधास्यन्तः ते हो चुः ।

हन्त पदस्यै पृथिव्या अनामृतं देवयजनं तत चन्द्रमसि निदधामहे।
तददेतत् चन्द्रमसि कृष्णम्।"

^३ Beography of Earth, P. 43

earth.....It is assumed that the moon was produced from the superficial layers of the earth bodys which are rich in light silicon.....but since the specific weight of moon is greater than that of the larger planets and smaller than of the earth . It would seem to be more in accord with the theory that the earth was born of the moon, despite its smallness.”¹

यह मान लिया जाता है कि चन्द्र का Specific Weight (भार) पृथ्वी के भार से अधिक है। परन्तु चन्द्र का Specific भार बड़े ग्रहों के भार से अधिक और पृथ्वी के भार से न्यून है। अतः यह मानना युक्तिसंगत होगा कि पृथ्वी चन्द्र से निकली है चन्द्र का आकार में छोटा होना इस तथ्य में बाधक नहीं है।
भारतीय मनीषा :

वैदिक मनीषियों के अनुसार वस्तुतः न तो चन्द्र पृथ्वी से जन्म है और न पृथ्वी चन्द्र से उत्पन्न हुई । चन्द्रमा निःसन्देह आपः पुंज है; और आपः के गंभीरतम् स्थान से निकला है।² वस्तुतः सूर्य से उत्पन्न ग्रह आदि ही सूर्य रश्मियों को मूर्च्छित (Reflect) करते हैं। इस तथ्य के पुष्ट करने हेतु तैत्तिरीय ब्राह्मण का वचन उल्लेखनीय है— “यदिदं दिवो यददः पृथिव्याः । संजज्ञाने रोदसी संवभूवतुः ॥”³ यह जो भूमिस्थ ‘उष’ रूप है वह द्युलोक का है। पृथ्वी तल के जलों के सूखने के बाद उष (ऊसर) पृथ्वी प्रकट हुई। जब द्यावा—पृथ्वी साथ—साथ थे सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, सब साथ एवं पास पास थे तब यह चन्द्रमा का कृष्णत्व पृथ्वी से गया । अधिक स्पष्टीकरण हेतु ब्राह्मण ग्रन्थ का यह वचन दृष्टव्य है— “यददश्चद्रमसि कृष्णं पृथिव्याहृदयंश्रितम् ।”⁴ इसके अनुसार चन्द्र का कृष्णत्व पृथ्वी का हृदय है। पृथ्वी के हृदय को समझाने के लिये जैमिनीय ब्राह्मण का वचन प्रजापतेरेव हृदयेऽनौ सर्वं.....⁵ उल्लेख्य है। यह हृदय पृथ्वी से कैसे अलग हुआ ? पृथ्वी के अन्दर का द्रव्य किस वेग से बाहर निकला । उस समय पृथ्वी त्वक् किस दशा में थी? चन्द्रमा ने किस आकर्षण से उस सामग्री को खींचा? वह द्रव्य पुनः पृथ्वी पर क्यों नहीं लौटा? इस घटना से पूर्व पृथ्वी का भार कितना था? चन्द्रमा के भार में क्या परिवर्तन हुआ? पृथ्वी का कृष्ण अनामृत भाग समस्त चन्द्रमा पर क्यों नहीं फेला? इससे पूर्व चन्द्रमा का गुरुत्व कितना था? उसकी गति क्या थी? जब चन्द्रमा में पृथ्वी का अंश है और चन्द्र में सोम भी है तो चन्द्रमा पर वनस्पति भी होनी चाहिए ? यह गंभीर विषय गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। चन्द्रमा में जो मृत ज्वालामुखी है और जो पृथ्वी के हृदय से से चन्द्र में पहुँचे उसके विषय में गैमो महोदय ने लिखा है कि—

¹ Worlds in collision, P.23 and 25

² शतपथ ब्रा. १/५/१/८

³ तैत्ति.ब्रा. १/२/१/४ तैत्ति.सं. ५/३/३

⁴ म.ब्रा. १/५/१३

⁵ जैमि.ब्रा. : २/२६२

“.....They were produced by the gases liberated from the rocky matter of the moon during the process of its solidification.¹ इनके मतानुसार चन्द्रमा पर गैसों थी। एतदर्थ वहाँ वायुमण्डल का अस्तित्व आवश्यक है। जबकि वहाँ आज वायुमण्डल का अभाव स्वीकार किया जाता है।

इस सम्बन्ध में भारतीय मत अधिक उपयुक्त है कि कभी द्युलोक भूमि से उन्मृश्य था। चन्द्र भी द्युलोक का एक अंग है। वह भी निश्चय ही भूमि के अति समीप था। सूर्य के उत्पन्न अन्य ग्रह भी भूमि के पार्श्ववर्ती ही थे।² वायु ने तीनों लोकों को पृथक् किया। आईन स्टाइन और गेमो भी भारतीय तथ्य को आंशिक रूप में समझते थे—गेमो ने लिखा है कि, “Infact, it is obious that the moon must have been revolving, almost within touch of the earth is surface immediately after the separation.”³

जैमिनीय ब्राह्मण आदि में चन्द्रस्थ कृष्ण भाग को शश कहा गया है। यह शश ही चन्द्रमा के छिन्न—भिन्न न होने का कारण है।⁴ पराशर की अति प्राचीन संहिता में उल्लेख मिलता है कि कभी कभी चन्द्र शशांक रहित भी हो जाता है। “खण्डः स्फुटितो विवर्णो वेपनोऽशशांकश्चन्द्रमा प्रजानाशाय।” यद्यपि शश चन्द्र का अंग है उसका नाश संभव नहीं है तथापि कभी चन्द्र त्वक् से चन्द्रमण्डल का कोई भाग किसी पदार्थ विशेष से ढक जाता हो ऐसी संभावना की जा सकती है।

चन्द्रमा तथा आपः

सूर्य माया आपः का परिणाम है। चन्द्र सूर्य से उत्पन्न हुआ, इस तथ्य में आपः की माया भी अवश्य रही होगी। इस विषय में निम्न तैत्तिरीयों का प्रवचन सहायक सिद्ध हो सकता है। ‘चन्द्रमा वा अपांपुष्पम्’ यहाँ चन्द्र को आप का पुष्प निश्चित किया गया है। यही बात ताण्ड्य ब्राह्मण में भी कही गई है ‘अपां पुष्पमसि’ वायुपुराण भी इसी भाव की पुष्टि करता है—महादेवोऽमृतात्माऽसौ ह्यम्मयश्चन्द्रमा स्मृतम्। (२७/४८) तथा ‘उदकाश्चन्द्रमाः स्मृतः (वायु. ५०/४), ब्रह्माण्ड पुराण का पूर्व भाग भी चन्द्र और उदक का सम्बन्ध स्वीकार करता है—‘पद्यते चाग्निरादित्य उदकं चन्द्रमा स्मृतः। (२४/४) वायुपुराण में महादेव के आठ नामों के वर्णन क्रम में कहा गया है कि “नाम्नाऽष्टमस्यस महतस्तनुर्वा चन्द्रमास्मृतः। पत्नी तु रोहिणी तस्य पुत्रश्चाह्वय बुधः स्मृतः ॥ (२७/५६) शिव का अर्थ है आग्नेय परमाणु विशेषों का आठवाँ तनुः। वह चन्द्रमा कहा जाता है।

¹ Biography of the Earth, P. 54—55

² शतपथ ब्रा. १/४/१/२२ उन्मृश्या हैव द्यौरस। तैत्ति.सं. ३/४/३ ‘इमे वै सहस्रतां ते वायुर्व्यतात्।’

³ Biography of the earth, Pg. 48

⁴ जैमि.ब्रा. १/२८ एष वै शशो एषो यऽन्तश्चन्द्रमसि।

⁵ अद्भुत सागर, पृ. ३१ पर उद्धृत।

⁶ तैत्तिरीय ब्रा. के उक्त वाक्य की तुलना निरुक्त २/६ पर कथित टिप्पणी ‘अम्मयं हि चन्द्रमसो मण्डलम्।’

⁷ तुलना हेतु वायुपुराण : ५२/६०

⁸ बृहत्संहिता : ४/२ सलिलमये शशिनि.....’

इसकी पत्नी रोहिणी एवं पुत्र बुध है। यही तथ्य वायुपुराण में अन्य प्रकार से उद्धाटित करने का प्रयास किया गया है कि पंचवर्षीय युग का तीसरा वर्ष इदावत्सर माना जाता है। यह वत्सर चन्द्र विषयक है। चन्द्र रूपी पक्षी की शुक्ल और कृष्ण दो गतियाँ हैं। यह पक्षी आपः का सार रूप है।¹ वरहमिहिर ने भी सलिलमय चन्द्र माना है। सूर्य रश्मियाँ वहाँ से मूर्च्छित (प्रत्यावर्तित) होकर रात्रि में भूमिस्थ अंधकार को दूर करती है।²

उपर्युक्त संस्कृत उल्लेखों से दो परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं कि (१) चन्द्रमण्डल घनतोयात्मक³ (Moon's atmosphere) है जो अस्पष्ट ही जान पड़ता है। (२) चन्द्रमा 'अम्भय' है। ब्रह्माण्ड पुराण पृथ्वी मण्डल के गिर्द घनतोय उससे परे घनतेज तथा उसके बाहर तिर्यक ओर उर्ध्व घनवात स्वीकार करता है। उससे परे आकाश अथवा अन्तरिक्ष की स्थिति मानता है। जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थ बोध की टीका में भी घनवात अम्बुवात और तनुवात पृथ्वी के ऊपर तीन वलय स्वीकार किये गये हैं।⁴ इन तथ्यों के विपरीत चन्द्रमण्डल घनतोयात्मक है। सूर्यमण्डल घनतेजोमय शुक्ल है। इन मण्डलों का सूक्ष्म भेद वैज्ञानिक रहस्यों से परिपूर्ण है जो आज अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि चन्द्र उदक रहित है।⁵ इनके अनुसार उदक के ठोस, द्रव्य और गैस तीन ही रूप हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में भारतीय मत को इस प्रकार कहा जा सकता है कि पृथ्वी मण्डल के चारों ओर घनतयो के बारह घनतेज हैं। पृथ्वी अग्निगर्भा है। इस आग्नेय योग से जल का धूम बनता है। प्रतीत होता है कि इस आग्नेय योग का प्रभाव चन्द्र में वैसा नहीं है। अतः वहाँ धूम का सृजन नहीं होता। सूर्य की सभी किरणें सुषुम्णा को छोड़कर चन्द्र में अन्तर्हित होकर नष्ट हो जाती है। यह तथ्य वैज्ञानिकसंपुष्टि की अपेक्षा रखता है।

चाँदनी (चन्द्रदीप्ति) :

तीनों लोकों में सूर्य ही दीप्ति का पुंज है। सूर्य से उत्पन्न चन्द्र एवं ग्रह आदि दीप्ति या प्रकाश से रहित है। ये सभी सूर्य की दीप्ति से ही न्यूनाधिक चमकते हैं। उत्पल कृत बृहज्जातक की टीका पृ. ३ पर सूर्यसिद्धान्त का एक श्लोक दिया गया है—

तेजसां गोलकः सूर्यो ग्रहक्षव्यम्बुतोलबाः ।

प्रभावन्तो हि दृश्यन्तो सूर्यरश्मि प्रदीपिताः ॥

¹ वायु.पु. ३१/३० 'शुक्ल कृष्णगतिश्चापि अपां सारमयः खगः ।

सः इदावत्सरः सोमः पुराणे निश्चयो मतः ॥

² बृहत्संहिता ४/२ : सलिलमये शशिनि

³ वायु.पु. ४०/९९ 'घनतोयात्मकं तत्र मण्डलं शशिनिः स्मृतम्। तथा—

ब्रह्माण्ड पुराण २/२४/७९ : पृथिव्या मण्डलं कृत्स्नं घनतोयेन धार्यते ।

घनोदधिः परेणाथ धार्यते घनतेजसां ॥

⁴ तन्त्रार्थ सूत्र : अध्याय ३, पृ. ४६—४७

⁵ H.Spenceer Jones : Life on otherworld Pg.72 and G. Gamow-Bio-of Earth, Pg.53

वायु पुराण भी इसका समर्थन करता है।^१ चन्द्रमा के शुक्ल पक्ष में सूर्य के सामने रहने से चन्द्र दिन दिन क्रमशः बढ़ता जाता है। सूर्य एक रश्मि से १५ दिन सोम पान करता है और चन्द्र को सुषुम्ना से पूर्ण करता है। सहस्ररश्मियों में से केवल एक रश्मि सुषुम्ना ही चन्द्र को अलंकृत करती है। यह वैदिक विवेक आज भी वैज्ञानिकों के लिये रहस्य ही है। प्रीणाति देवान् अमृतेनसूर्यः सोमं सुषुम्नेन विवर्धयित्वा । (वायु. ५२/३७) सुषुम्ना के विषय में वायुपुराण का कथन है कि 'सुषुम्न सूर्य रश्मि कृष्णपक्ष में क्षीण चन्द्र को बढ़ता ही है। तिरछी और ऊपर की ओर फेलने वाली सुषुम्न है।' पुराणों का यह मत वैदिक साहित्य का ही उपबृंहण है। याजुष वाजसनेय संहिता का कथन है कि 'सुषुम्नाः सूर्यरश्मि ॥१८/४०॥ निरुक्त में यास्क ने भी इस ओर संकेत दिया है। 'अथाप्यस्यैको रश्मिचन्द्रम सं प्रति दीप्यते ।.....आदित्यतोऽस्य दीप्तिभवति । शतपथ ब्राह्मण^३ का भी वचन है 'सुषुम्ना इति ।.....सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः। यास्क का एक ओर मंत्र इस तथ्य को किंचित् स्पष्ट करता प्रतीत होता है। 'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो ग्रहे ।' यहाँ गो रश्मि सुषुम्न नामक Reflection को माना है। यास्क ने अपीच्यम् के चार अर्थ किये हैं—अपचितम्, अपगतम्, अपिहितम् तथा अन्तर्हितम् क्रमशः अलग रखी, अलग हुई, ढंकी हुई तथा अन्दर रखी हुई अर्थ की वाचक हैं। सूर्य किरणों की चार दशायें चन्द्र भी हो जाती है। यहां अनुसंधान का विषय है कि विभिन्न रश्मियाँ अलग कैसे हो जाती हैं? वे चन्द्रमण्डलन में अन्तर्हित (Absorb) कैसे हो जाती है? चन्द्र में ऐसी क्या सामग्री है जो अन्य रश्मियों को निगल जाती है। भौतिक रश्मियों को जब चन्द्र अन्तर्हित कर लेता है तो चन्द्र मण्डल का ताप बढ़ता है या नहीं?

इस विषय में स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद भाषा में लिखा है कि 'सुषुम्नो नाम सूर्यरश्मिश्चक्रमसं गतः अम्भमत्वात् चन्द्र मण्डलस्य ततः प्रतिहतः सन् परावृत्य ज्योत्स्ना रूपेण पृथिव्यां दीप्यते । रश्मि मूर्च्छन के लिये यहाँ प्रतिहत होकर 'परावर्तन' शब्द का प्रयोग प्राप्त है। श्री व्रजेन्द्रनाथ सील ने वराहमिहिर से किरणविघटन और वात्स्यायन से रश्मि परावर्तन शब्द प्रयोग हेतु प्राप्त किये हैं।

जगत् में सम्पूर्ण दीप्ति के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि संसार में प्राण से अग्नि दीप्त होता है। अग्नि से वायु, वायु से आदित्य, आदित्य से चन्द्र, चन्द्र से नक्षत्र, नक्षत्रों से विद्युत दीप्त होती है। इतनी ही दीप्ति पृथ्वी और द्युलोक में प्राप्त है।^२ याज्ञवल्क्य के मतानुसार वायु और प्राण में भेद है। प्राण ऑक्सीजन है। पृथ्वी पर अग्नि इसी से जलता है। दीप्त होता है। अग्नि से अन्तरिक्षस्थ वायु दीप्त रहता है। वायु से आदित्य दीप्त है। अन्तरिक्ष के वायु के षष्ठः मार्ग (स्कन्ध) में आपः कण चंचल और दिव्य हो जाते हैं। वायु ही उन्हें

^१ वायु.पु. ५३/६१ 'आदित्यरश्मिसंयोगात् संप्रकाशात्तिका स्मृताः । तथा ५२/५५—५७

^२ वायु.पु. ४३/४६ तिर्यमूर्ध्वप्रचारोऽसौ सुषुम्नः परिकीर्त्यते। तथा ५६/३०

^३ शतपथ ९/४/१/९

^४ शतपथ ब्रा. १०/६/२/११, ताण्ड्य ब्रा. १/७/३

सूर्य में ले जाकर दीप्त करता है। इस वचन के अनुसार द्यु लोकों से परे की दीप्ति लोकों की दीप्ति इधर लोकों में नहीं है।

द्यु लोक रश्मियों से भरा पड़ा है।^१ द्युलोक में स्थित रश्मियों की गति जिज्ञासा का विषय है। स्यैसर महोदय के अनुसार ग्रहों का अपना कोई प्रकाश नहीं है। ग्रहों के दर्शन सूर्य किरणों के कारण होते हैं। सूर्य प्रकाश ग्रहों पर अंशतः विखरता और अंशतः अन्तर्हित हो जाता है। चन्द्र धरातल से दस प्रतिशत सूर्य का प्रकाश प्रत्यावर्तित होता है।^२ वैदिक ऋषियों ने १०% के स्थान पर एक रश्मि का व्यापार बताकर तथ्य को सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। वराहमिहिर भी किरणों का परावर्तन स्वीकार करते हैं।

चन्द्र का एक नाम शीतरश्मि भी है।^३ इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्र पृथ्वी से उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु पृथ्वी का जो हृदय चन्द्र में गया वह कितने समय में अपना ताप खो बैठा यह जानने का विषय है। चन्द्र का एक पार्श्व सदा ही पृथ्वी के सामने रहता है।^४ महाभारत में भी यही तथ्य उजागर हुआ है।^५ यह संभव है कि अव्याहत गति वाले ऋषियों ने ये स्थान देखे होंगे। मनुष्यों ने नहीं। चन्द्र के कारण पृथ्वी के समुद्रों में ज्वार भाटा संभव होते हैं।^६ विष्णु पुराण के अनुसार पूर्णिमा को समुद्र जल ऊपर ११५ अंगुल उठता है। कृष्ण पक्ष में उसके जल का ह्रास होता है। समुद्र का जल नदियों के जल से क्यों नहीं बढ़ता। नदियों का जल का इतने समय में ही वाष्प बनकर उड़ जाते हैं। विज्ञान मतानुसार चन्द्र का आकर्षण जलों की वृद्धि का कारण है। पुराणगत जल उद्रेक का कारण अग्नि संयोग है। श्रीधर आचार्य का मानना है कि उद्रेकावस्था में जल या द्रव विरलावयव हो जाता है। शीतरश्मि जल उद्रेक का कारण कैसे होती है—स्पष्ट नहीं है। मोनियर विलियम्स उद्रेक का एक अर्थ (Excess) आधिक्य करते है। Expansion अग्नि योग का फल है। चन्द्र का आकर्षण विचार करने का विषय है।

चन्द्रगति :

चन्द्र की गति को जानने के लिये चान्द्र अश्व एवं पितरं का अध्ययन आवश्यक है। चन्द्र का रथ तीन चक्र और दोनों पार्श्वों में ंहर जाना चाहिये। यह रथ अन्तरिक्ष के पाथ पावक अग्नि के कारण उत्पन्न होता है। चन्द्र रथ के साथ अश्व और उसका सारथि भी है।^७ वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण में चन्द्र के दस श्वेत अश्वों का नाम प्राप्त होता है। जो चन्द्र रथ को आगे चलाते हैं। अश्वों के

^१ वाजसनेयी संहिता : रश्मीवतीं भस्वतीषा या द्यां भास्यापृथिवीर्भोर्वन्तरिक्षम् । तथा शतपथ—रश्मीवती हि द्यौर्मर्भास्वती।

^२ स्यैसर : लाइफ आन अदर वर्ल्ड, पृ. ४७.७३

^३ ब्र.पू.मा. २४/१३० बृहज्जातक : २/२

^४ स्यैसर जौन्स, पृ. ७०

^५ महाभारत : शान्ति. २०१/६ : यथा हिमतवो पार्श्वे पृष्ठः चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न न तन्नास्ति तावता ॥

^६ विष्णु पुराण : द्वितीयांश अध्याय ४/८९-९२

^७ वायु पु. ५२/५०

नाम यजुः (यजुः) त्रिमा (चण्डमना) वृष, राजीविल (वाजी,नरः), अश्व, वाम (गिविष्णु), तुरण्यः, हंस, व्योम, तथा मृग^१ व्याडि कोश में भी दस नाम दिये गये हैं।^२ ये अश्व चन्द्रमा को ध्रु के घर में चलाते हैं। चन्द्र देवों एवं पितरों से घिरा चक्र काटता है।

नक्षत्र उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद १/२४/१० में चन्द्रोत्पत्ति का भी कथन प्राप्त होता है। तजो याज्ञवल्क्य के नक्षत्र उत्पत्ति प्रकरण को विस्तार से उद्धाटित करता है। चन्द्र सृजन के साथ जो अश्रु(आपः के छोटे कण फुहार रूप में) बहे वे नक्षत्र बने। शतपथ—ब्राह्मण^३ के अनुसार प्रजापति के तप करते हुये लोमगर्तों के ऊपर ज्योतियाँ गई जो नक्षत्र हुई जितने लोमगर्त हैं उतने ही नक्षत्र तथा उतने ही सहस्र संवत्सर के मुहूर्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण^४ के अनुसार एक संवत्सर में १०८०० मुहूर्त होते हैं। अतः सहस्रसंवत्सर में एक करोड़ आठ लाख लोमगर्त एवं नक्षत्रों की संख्या कही गई है। नक्षत्र तो २७ तथा उनके ३९ नक्षत्र भी २७ हैं तो ये करोड़ों नक्षत्र कौन हैं? ध्रुलोक अलंकरण में कहा गया है कि ३ पितरों ने ध्रुलोक को नक्षत्रों से सजाया। यही कारण है कि चन्द्र से देव एवं पितर ने का सम्बन्ध है। यह नक्षत्र गणना हमारे ध्रुलोक की है। आज के विज्ञान ने इससे भी परे चालीस अरब तारे स्वीकार किये हैं।^५ तैत्तिरीय ब्राह्मण में देव और यम दो प्रकार के नक्षत्र कहे गये हैं।^६ कृत्तिका से विशाखा तक देव नक्षत्र तथा अनुराध से अपअरिणी तक यम नक्षत्र हैं। देव नक्षत्र देवलोक की ओर दक्षिण से होते हुये घूमते हैं। यम नक्षत्र उत्तर की ओर से होते हुये यम लोक की ओर जाते हैं। कृत्तिका की गति अन्य प्रकार की कही गयी है। यह प्राची दिशा में नहीं खिसकते चलते। (शत. २/१/२/३) नक्षत्रों की गतियाँ वीथियों पर आश्रित हैं। (विष्णु पु. २/१२/२)।

हमारा विनम्र निष्कर्ष है कि चन्द्रमा सृष्टि के चतुर्थ क्रम पर आता है। बाइविल में भी उत्पत्ति के प्रथम दिन सर्व प्रथम पृथ्वी। तदनु अन्तरिक्ष को द्वितीय तथा भूमि पर औषधि आदि का प्रादुर्भाव तृतीय दिन तदनु चतुर्थ दिन सूर्य चन्द्र की उत्पत्ति का क्रम मिलता है। बाइविल में प्राप्त Day दिन का प्रयोग किसी मूल का परिणाम हो सकता है तथापि चन्द्रमा की सृष्टि निःसन्देह चतुर्थ स्थान पर ही सिद्ध होती है।

^१ वायु पु. ५/५३:५४, ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग, ३/५६-५७ ब्रह्माण्ड पुराण के पाठान्तरित नाम कोष्ठक में दिये गये हैं।

^२ हेमचन्द्र कृत अभिषान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका, पृ. ३९ पर उद्धृत।

^३ शतपथ. २/१०/४४

^४ शतपथ. १२/३/२/५, जैमि. ब्रा. २/६१

^५ जार्ज गेमों वन, दृ. श्री, infinity, 1953, P. 266

^६ तैत्ति. ब्रा. १/५/२, यह भास्कर भाष्य सहित, पृ. २५९

ग्रह और धूमकेतु

वैदिक वांगमय के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति सूर्य से हुई। चन्द्रमा का सूर्य की सुषुम्ना रश्मि से है। सूर्य की एक रश्मि का नाम हरिकेश है। जो ऋक्षयोनि कही गई है। सूर्य की प्रधान सात रश्मियों में से इन दो के अतिरिक्त एक काव्य सूर्य की रश्मि विश्वकर्मा एक महत्वपूर्ण किरण हैं। क्योंकि विश्वकर्मा रश्मि का सम्बन्ध बुध ग्रह से है। वायु पुराण का मत है कि, 'दक्षिणे विश्वकर्मा तु रश्मिर्वर्धयते बुधम्।' (५३/४९)। सूर्य की दक्षिणवर्ती यह रश्मि बुध को बढ़ाती है। काठक संहिता (२७/९) तथा कपिण्ठल संहिता (२६/८) विश्वकर्मा को सूर्य की दक्षिणवर्ती मानती है। रथस्वन और रथेचित्र उसके क्रमशः सेनानी और ग्रामणी है। मेनका और सहजन्त्या अप्सराएँ हैं। 'अयं दक्षिणा विश्वकर्मा। तस्य रथस्वन रथेचित्रश्च सेनानी ग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्त्या चाप्सरसौ।' शतपथ में इस पाठ की स्पष्टतर व्याख्या की गई है।

'अयं दक्षिणा विश्वकर्मा इति। अयं वै वायुविश्वकर्मा योऽयं पवते। एष हीयं सर्वं करोति। तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति। तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानी ग्रामव्यौ इति। ग्रैष्मौ तावृत। (८/६/१/१७) पुराण में विश्वकर्मा को रश्मि बताया गया है। जबकि शतपथ के इस प्रकरण में हरिकेश को सूर्यरश्मि तथा विश्वकर्मा को वायु कहता है। इस मत भिन्नता में प्रतीत होता है कि विश्वकर्मा रश्मि और वायु में कोई सूक्ष्म सम्बन्ध अवश्य है। शतपथ ब्राह्मण में आगे माहित्य का प्रमाण दिया है। माहित्य को याज्ञवल्क्य प्रामाणिक आचार्य मानते हैं। उनके अनुसार उपर्युक्त दोनों अप्सराएँ दिशा और उपदिशा हैं। जिन सूर्य की नाड़ियों में ये अप्सराएँ अपना स्थान बनाये हुये हैं। अतः ये दोनों नाड़ियाँ दिशाओं और उपदिशाओं तक अपना चक्र बनाती हैं।

बुध (Mercury) को शशिज, चन्द्रज, सोमपुत्र, त्विषपुत्र तथा ज्ञः आदि नामों से बताया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग में वैदिक ज्ञान के ज्ञाता बुध को नारायण भी कहा गया है। 'नारायणं बुधं प्राहुर्वेदज्ञानविदो बुधः।' (२४/२९) स्पष्ट है बुध ग्रह सूर्य से नहीं चन्द्र से उत्पन्न हुआ। यहाँ यह जानना जरूरी है कि जैसे चन्द्र का एक भाग ही सदा पृथ्वी की ओर रहता है। उसी प्रकार बुध का भी एक भाग सूर्य की ओर सदा रहता है। यह ग्रह सूर्य के सबसे अधिक समीप है। सूर्य चन्द्र के रथ की भाँति बुध का भी रथ भी है।

तोयतेजोमयः शुभ्र सोमपुत्रस्य वै रथः।

सोपासंगपताकास्तु सध्वजो मेघनिस्वनः ॥

(ब्रह्माण्ड. २३/८०-८१)

विष्णुपुराण के अनुसार बुध का रथ वायु और अग्नि के मिश्रित द्रव्य से उत्पन्न रथ है। इसके आठ अश्व पिषंग वर्ण के हैं। 'वाय्वग्निद्रव्यसंभूतो (यश्चन्द्रसुतस्य च)'' (२/१२/१६) ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग में आप्य और श्याम पंचरश्मि बुध का स्थान है। आप्यं श्यामं मनोज्ञस्य पंचरश्मेर्गृहं स्मृतम्। (२४/४९)

द्वितीय अति प्रसिद्ध नीले रंग का चमकीला ग्रह शुक्र (Venus) है। इसका शुक्र नाम सूर्यस्थ शुक्र तेज बहुत अधिक मूर्च्छित होने से है। शुक्र को सित, उशना (ऋ. १/५१/१०-११), काव्य और भार्गव नाम से भी जाना जाता है। इसकी उत्पत्ति में जहाँ सूर्यस्थ शुक्र का सम्बन्ध है वहाँ भृगु ऋषि (प्राण) का भी सम्बन्ध है। भृगु (प्राण) का जन्म अचिर्यो से हुआ है। (वृहदेदवता ५/९९) अर्चि संभव प्राणों का समावेश भार्गव में है। शुक्र की उत्पत्ति सूर्य की सप्त प्रधान रश्मियों में से चतुर्थ रश्मि विश्वश्रवा से कही गई है। यथा—

विश्वश्रवास्तु यः पश्चात् शुक्रयोनिः स्मृतो बुधैः ॥

(वायु. ५३/४८)

विश्वश्रवा शुक्रग्रह की योनि है। बुध की योनि विश्वकर्मा रश्मि से सम्बद्ध मासों से अलग दो श्रवण और भाद्रपद मास वार्तिक ऋतु के हैं। (शतपथ. ८/६/१/८) 'पश्चात् विश्वव्यचा ।' वह आदित्य ही विश्ववचा है। अतः तस्मादेतं प्रत्यंचयेवं यन्त पश्यन्ति । अर्थात् उसे पश्चिम में जाते हुये को देखते हैं। रथ प्रोत और असमत्व उसके सैनानी और ग्रामणी है। ये दो वार्षिक ऋतु के मास हैं। प्रम्लोचन्ती और अनुम्लोचन्ती अप्सरयें दिशा और उपदिशा है। परन्तु दोनों अहोरात्र हैं। व्याघ्रा हेति और सर्पाः प्रहेति हैं। इस कथन की तुलना पूर्वोक्त सूर्यमण्डल में सहागण के वर्णन से करनी चाहिये। अस्पष्टता के सन्दर्भ में यह गंभीर अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। शुक्र के रथ का तेज सूर्य सदृश है। इस रथ के अश्व पृथ्वी से उत्पन्न हैं तथा दश वर्ण के हैं। ये दस वर्ण श्वेत, पिशांग, सारंग, नील, पीत, विलोहित, कृष्ण, हरित, पृषत और पृश्नि । (अद्भुतसागर, पृ. १२६) 'भार्गवस्य रथः श्रीमान् तेजसा सूर्य सन्निभः । (ब्रह्माण्ड पु. २३/८१-८३) ऋग्वेद (१/११५/३) के अनुसार सूर्य के अश्व चित्रर्ण अश्व हरितः तथा एतग्वा अर्थात् एत वर्ण वाले हैं। चन्द्र के दस अश्व शुक्ल वर्ण के हैं। ये पावक अग्नि से जन्म हैं। बुध के अश्व पिषंग (कपिल) रंग के तथा शुक्र के अश्व दस भिन्न वर्णों के कहे गये हैं। मंगल ग्रह के अश्व अग्नि संभव है। इन सब ग्रहों के अश्व रश्मियों से युक्त है। इन्हीं किरणों के चित्र स्पेक्ट्रम में आते हैं। आज का विज्ञान Spectrum की इन्हीं वर्ण रेखाओं से अनुमान करते हैं कि उक्त ग्रहों में कौन कौन सी धातुएँ हैं। वैदिक वैज्ञानिक अवधारणा की सहायता से Spectrum की रेखाओं का अभिप्रायः अच्छी प्रकार से समझा जा सकेगा। शुक्र का तेज सूर्य के समान है, जिसे आज का वैज्ञानिक भी स्वीकार करता है। लाइफ ऑन अदर वर्ल्ड पृ० १०२ पर कहा गया है कि — Venus reflects about 60 percent of the Sunlight that falls upon it. ' शुक्र का स्थान अम्मय, शुक्ल अथवा पद्म, षोडश रश्मियों में है। 'शुक्रस्यापि अम्मयं शुक्लं पद्मं षोडशरश्मिषु । (ब्रह्माण्ड पु. २४/९५)

मंगल ग्रह (Mars) को भौम, लोहितांग, सुरसैनापति, स्कन्द या कुमार कहा गया है। 'सुरसैनापतिः स्कन्दः पद्मयतेऽंगारको ग्रहः । (ब्रह्माण्ड पु. २४/४८) वायु पुराण मंगल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहता है कि मंगल की

योनि संयदवसु रश्मि है। 'संयद्वसुश्च यो रश्मिः सा योनिलोहितस्य तु । (५३/४८) काठक संहिता और शतपथ का मत तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा करता है। ' अष्टाश्व कांचन श्रीमान भौमस्यापि रथोत्तमः । असंगैर्लोहितैरश्वैः सर्वगैरग्निसंभवैः । प्रसर्पति कुमारो वै ऋजुवक्र अनुवक्रमैः ॥ (ब्रमाण्ड पुराण ८४-८५) विष्णु पुराण के अनुसार सुवर्णतुल्य आठ अश्वों का रथ पद्मरग, अरुण या लोहित वर्ण के अग्नि से उत्पन्न (अश्वो) वाला है। (वि. २/१२/१८) मंगल के अश्व ऋजु, वक्र और अनुवक्र गति में चलता है। दिव्य दृष्टि से नारंगी रंग का मंगल अनेक स्थानों पर गहरे लाल रंग का भी दिखता है। इसी से उसे अंगारक कहा गया है। वैदिक वांगमय के अनुसार यह भूमि से जन्मा । ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग (२४/९५) के अनुसार मंगल की नव रश्मियाँ हैं। इसका स्थान लोहित और अम्मय है।

वृहस्पति (Jupiter) जिन्हें सुराचार्य, देवाचार्य, गुरु, आंगिरस बृहतेज एवं जीव आदि कहा गया है। वायु पुराण के अनुसार वृहस्पति की योनि छठी अर्वावसु नामक रश्मिः है। अंगारों में अंगिरा प्राणों का जन्म हुआ बताया गया है। ऋग्वेद में भी यह आंगिरस ही कहा गया है।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।

सप्तास्य तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरथयत् तमांसि ॥

(४/५०/४)

यहाँ गुरु को सात मुख वाला और सप्तरश्मि कहा गया है। पुराण में रश्मियों का तो नहीं इसके १२ अंशों का वर्णन प्राप्त होता है। 'हरिदाप्यं बृहत्स्थानं द्वादंशाशैर्बृहस्पतेः । (ब्र.पु.भा. २४/९६) विष्णु पुराण के अनुसार इसके रथ में आठ पाण्डुर अश्व हैं। इस रथ में वर्षा के चार माह के अन्त में गुह ठहरता है। यह प्रतिमास एक एक राशि बदलता है। 'अष्टाभिः पाण्डुरैर्युक्तो वाजिभिः कांचनो रथः । (२/१२/१९) ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वभाग के अनुसार गौर वर्ण के आठ अश्व आपः से उत्पन्न हैं। यह ग्रह एक वर्ष एक नक्षत्र के साथ रहता है— 'नक्षत्रेऽब्दं स तिष्ठान् वै संवेधास्तेन गच्छति । (२३/८७) । एक बगार देवों की दौड़ प्रतियोगिता में गुरु सफल रहे । वास्तविकता है कि गुरु की गति ग्रहों में तीव्रतम है। (शतपथ ५/१/१/१४ तथा जैमिनी ब्राह्मण २/१२८) वृहस्पति ने पृथ्वी को दृढ़ किया । पृथ्वी और वृहस्पति में परस्पर डर से मैत्री हुई । (शतपथ ५/२/१/८, ऋग्वेद ४/५०/१), पृथ्वी के अन्त को वृहस्पति ने स्तम्भित किया ।

शनि (Saturn) मन्दगामी महाग्रह है। इसे सौर, अर्कपुत्र, छायासुत, असित, विरुप और यम नाम से भी जाना जाता है। वायुपुराण के अनुसार स्वराष्ट्र रश्मि शनि को वर्द्धित करती है। 'शनिश्चरं पुनश्चापि रश्मिराप्यायते स्वराट्' (५३/४९) शनि व्योम में जन्में सबल अश्वों के लोह रथ पर चढ़कर शनैः शनैः जाता है। 'ततः शनैश्चरोऽप्यश्वैः सबलैर्व्योमसंभवैः । (ब्रह्माण्ड पु. २३/८७-८८) निश्चित है कि शनि की सामग्री में लोह अंश पर्याप्त मात्रा में है। बृद्ध गर्ग की शनि सम्बन्धी आश्चर्य चकित करनेवाली उक्ति महत्त्वपूर्ण है। 'वयुष्मान् रश्मिमाली च चन्द्रसूर्यसमीपगः । नातीव च विनिर्भाति नित्यं च

परिवेषवान् ॥ (अद्भुत सागर पृ० १४० पर उद्धृत) शनि का भासन अधिक नहीं होता क्योंकि यह सदा परिवेषवान् है। इसी भासन की न्यूनता से यह श्यामवर्ण का रहता है। इन परिवेषों का कारण स्पष्ट करना होगा। एतद्विषयक पाश्चात्य मत अनुमान पर आधारित है— It is the rings of Saturn that make it such a unique and striking object in the telescope..... (Life on other world P. 86). हमारा विनम्र मानना है कि ये परिवेश किसी पूर्व तारे के अवशेष नहीं हैं। भार्गवीय तंत्र में परिवेषों के मूल नौ वर्ण कहे गये हैं। उनके भी अनेक भेद हो जाते हैं।

ये ग्रह उत्तर, मध्य और दक्षिण तीन स्थानों या मार्गों को अपनाते हैं। इन स्थानों के अन्य नाम निम्नवत् हैं। उत्तर—मार्ग—ऐरावत स्थान, मध्यमार्ग—जारदग्व स्थान, दक्षिण मार्ग—वैश्वानर स्थान। (वायु.पु. ९.६६/४८). प्रत्येक मार्ग की तीन तीन वीथियाँ हैं। उत्तर में नागवीथी, गजवीथी—ऐरावती। मध्यमार्ग में—अर्यमी, गोवीथी, जारदग्वी। दक्षिणमार्ग में अज वीथी, मार्गी एवं वैश्वानरी। वेदों के अनुसार पितृयान और देवयान इन वीथियों के उत्तर और दक्षिण आदि में स्थिर हैं। (विष्णुपुराण २/८)।

धूमकेतु :

देवल ने आग्नेय आदि नौ प्रकार के १०८ केतु कहे हैं। आग्नेय १५, रौद्र २१, उद्दालिकसुत १०, काश्यपेय १४, मृत्यु ४, माहेय (क्षितितनय) २५, सोमसंभव ३, वारुण ३, यमपुत्र १३ प्रकार के केतु कहे गये हैं। हमारा अनुमान है कि धूमकेतु इस संख्या से कहीं बहुत अधिक हैं। इस सम्बन्ध में आचार्यों में भी मतभेद है। पराशर ने १०१ केतु कहे हैं। इनमें धूमोद्भव नामक एक केतु है। 'धूमोद्भव एकः' (अद्भुत सागर पृ. १६६—६७) ऋग्वेद में शुचि अग्नि की स्तुति में कहा है कि—

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः ।

धृतेन त्वावर्षयन्नग्न आहुत धमस्ते केतुरभवच्छिवि श्रितः ॥

(ऋ. ५/११/३)

धूमकेतु सब केतुओं में प्रमुख हैं— सर्वग्रहाणाम् एतेषाम् आदिरादित्य उच्यते । ताराग्रहाणां शुक्रस्तु केतूनामपि धूमवान् ॥ (ब्रह्माण्ड पु० २४/१३९) केतुओं के विषय में श्वेतकेतु का उल्लेख करना आवश्यक होगा। पराशर की प्राचीन संहिता में उल्लेख मिलता है— औद्दालिकि श्वेतकेतुः दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य भवकेतोश्चारुना पूर्वस्यां दिशि दक्षिणामिनतशिखोऽर्धरात्रकाले दृश्यः । तेनेव सह द्वितीय प्रजापतिसुतः पश्चिमेन कनाया ग्रहः केतुयुग संस्थायी युगपदेव दृश्यते । तावुभौ सहा रात्रदृश्यौ । (अद्भुत सागर, पृ. १८४)। ११० वर्ष प्रवास में रहकर भवकेतु के चार के अन्त में पूर्व दिशा में दक्षिण की ओर झुकी हुई शिखा वाला अर्धरात्रि में दिखाई देता है। उसी के साथ दूसरा प्रजापतिसुत पश्चिम दिशा से क—नाम ग्रह केतु, जो युग स्थाई है, उसी समय दिखाई पड़ता है। ये दोनों केतु सात रात तक दिखाई देते हैं। ईसा की १९वीं शती में Halley's Comet

का पश्चिमी खगोल—विदों को ज्ञान हुआ तो बड़े प्रसन्न हुये थे जबकि भारत में उससे हजारों वर्ष पूर्व भारतीय मनीषा इतनी सूक्ष्म दर्शी थी आज अध्येताओं की कमी के कारण प्राचीन वैज्ञानिक मनीषा तिरस्कृत हो रही है। आज अनेक केतु युग के पश्चात् लुप्त हो जायेंगे ।

कुछ आपः संदर्भ :

निरुक्त^१ निर्वचन के अनुसार अपः में चलनेवाली हैं और दर्शन देनेवाली होती हैं । 'अप्सर अप्सारिणी । अपि व अप्स इति रूपानाम्। अप्सा तेः अप्सानीयं भवति । आदर्शनीयं व्यापनीयं वा॥

आपः आग्नेय परमाणु जाल है। आपः के परमाणुओं को अग्नि अपने जाल में बांध कर रखता है। यही कारण है कि जल संहत रूप में रहता है^२ आपः का अग्निजाल है अतः अग्नि को आपः ले जाते हैं।

अन्तरिक्ष की उत्पत्ति में कहा गया है कि व्यापक आपः में प्रजापति था। प्रजापति से भूलोक अलग हुआ। तदनु आपः में स्थित अग्नि का पृथ्वी से मिथुन हुआ। अग्नि से संपीडित रस तन्मात्रा से आपः पैदा हुआ।

भौतिक अस्तित्व तथा अग्नि :

भौतिक अस्तित्व :

पंच महाभूतों के अस्तित्व को भारतीय ही नहीं बाबली, मिश्र और यूनानी सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। भौतिक अस्तित्व को बिना माने सृष्टि विज्ञान समझा ही नहीं जा सकता । आधुनिक रसायन शास्त्रीय विद्वानों ने भूतों का अर्थ Elements कर लिया और प्राचीन भारतीय विवेक को उपहास का विषय बना दिया। रसायन शास्त्र में लोहा, सोना, पारा, हाइड्रोजन आदि एलीमेंट हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन एलीमेंट्स के विकार हैं। वे मूल तत्व ही नहीं हैं। यह रसायन शास्त्र की मान्यता है।

वर्तमान भौतिकी तो लोहा, सोना आदि को भी तत्व नहीं । उसके अनुसार इनमें एटम है और एटमों में इलैक्ट्रॉन ही मूल तत्व है। लोहे का एक पूर्ण एटम स्वयं में २६ इलैक्ट्रॉन ही मूल तत्व है। लोहे का एक पूर्ण एटम स्वयं में २६ इलैक्ट्रॉन रखता है। इसी प्रकार विभिन्न धातुओं में एक एक एटम में इलैक्ट्रॉनों की संख्या भिन्न—भिन्न है। इससे तो सिद्ध होता है कि लोहा, सोना आदि का कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है। स्वतंत्र रूप तो इलैक्ट्रॉन्स का है।

पंचभूतों में प्रकृति भूत वायु के कर्मों का विवेचन करते हुये आचार्य चरक ने लिखा है कि, 'विभागो धातूनाम्। चरक के मतानुसार धातुओं की विभिन्नता का कारण प्रकृति भूतवायु है। चाँदी, सोना एवं लोहा आदि सब पार्थिव विकार हैं, जैसे पार्थिव अंश गंध के अनेक भेद हाते हैं, वैसे सही पार्थिव लोह आदि के भी विभाग हैं। ये विभाग वायु के कारण होते हैं। ये लोहादि तत्व (Element) नहीं हैं।

^१ निरुक्त : ५/१३

^२ कपिष्ठल सं : ३५/३ अपां व एस (अग्नि कुलायः । तस्मादेन आपः प्रहासकाः । अपां हरोष कुलाद । तथा तैत्तिरीय सं : ५/६/४

वस्तुतः ऐटम आदि अपः, वायु और तेज आदि का मूल रूप है। इसकी सिद्धि के लिए परीक्षण आवश्यक है। यद्यपि प्रशास्तिपाद के पदार्थ धर्मग्रन्थ संग्रह के गुण ग्रन्थ प्रकरण में अणु और परमाणु का किंचित् विवेचन मिलता है, वह भी परीक्षण की अपेक्षा रखता है।

‘अग्निं वै वरुणानीरम्यकामयन्त । तास्समभवत् । आपो वरुणानीर्यदग्ने रेतोऽसिच्यत तद् हरितमभवत् । यदपां तद् रजतम् । काष्ठ सं० ८/५ ॥’

अग्निवै वरुणानीरम्यकामयत । तस्य तेजः परापतत् । तद् हिरण्यमभवत् । काष्ठक सं० ८/५ ॥’

उपर्युक्त काठक संहिता में आपः और अग्नि के मेल से हिरण्य और रजत की उत्पत्ति कही गयी है। वस्तुतः वायु, अग्नि और आपः के परमाणुओं के सम्मिलन से सभी धातुओं की पृथक्ता हो जाती है। अन्तरिक्ष लोह, रजत एवं हिरण्य का पार्थक्य शतपथ ब्राह्मण १३/२/१०/३ से ज्ञात होता है। इसी संदर्भ में तीन सूचियाँ हैं—लोहमय, रजत, और हिरण्य। संभव है कि आपः आदि परमाणुओं के वर्ण लोह रजत एवं हिरण्यवत् हों।

वायु का गुरुत्व :

अस्तु और भारतीय ऋषि वायु के गुरुत्व नहीं मानते थे। इस तथ्य के विरुद्ध भौतिक विदों ने एक यंत्र में से वायु निकालकर अवकाश (वैक्यूम) उत्पन्न कर परीक्षण से परिणाम निकाला कि वायु में भार होता है। यद्यपि कहीं भी पूर्ण वैक्यूम संभव नहीं हो सकता। भौतिक विदों ने वायु निकालते समय यह विचार नहीं किया कि वायु निष्कासन के समय जो रजादि के रेणु बाहर निकले भार उनमें था, मूल वायु में भार होता ही नहीं।

पांच भौतिक तत्वों का अस्तित्व बिना स्वीकार किये न तो विज्ञान का और न सृष्टि विज्ञान का तारतम्य जुड़ ही नहीं सकेगा। ब्रह्माण्ड पुराण की निम्न वैज्ञानिक स्थापना बड़ी महत्वपूर्ण है—

प्रत्याख्याय तु भूतानि कार्योत्पत्तिर्न विद्यते।

तन्तूनामिव संतारो भूतेष्वन्तर्गतो मतः ।

ब्र.पु. पूर्वभाग, अ. १९/१८९

इन भौतिक तत्वों पर अधिक अनुसंधान की महती आवश्यकता है। हाँ यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि पृथ्वी, अपः, तेज आदि पांचों तत्व वे नहीं हैं जो दृश्यमान, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि हैं। संस्कृत परम्परा में तत्वों के ज्ञाता तत्ववेत्ता, तत्वचिंतक या भूतचिन्तक कहे गये हैं।

सप्तलोक :

सात लोकों के वैदिक नाम क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् है। जैमिनी ब्राह्मण १/११ में सात लोकों के नाम उपोदक, ऋतधाम, अपराजित, अधिद्युः, पद्युः, रोचन और शिव अर्थात् ब्रह्मलोक कहे गये हैं। इसी ब्राह्मण ३/३/४७ में आगे सात लोकों का गणना निम्नवत् है— उपोदक, ऋतधामा, शिव, अपराजित, अधिद्युः, प्रद्युः एवं रोचन।

रोचन पद दीप्तिवाचक है अतः यह सूर्य और उससे प्रदीप्त लोकों का भी वाहक है। (शतपथ ब्रा. ७/१/१/२४) सातवाँ लोक सूर्यलोक से भी पर्याप्त दूर

है। आदित्य से दूर लोकों के सम्बन्ध में जैमिनी ब्राह्मण १/११ कहना है कि 'वहवो हवा.....आदित्यात् परांचो लोकाः ।' निश्चित ही सूर्य से परे लोक है। ये लोक 'अन-अन्तर्हित' है। ये लोक परस्पर पृथक् नहीं है। कोई द्रव्य उन्हें पृथक् नहीं होते देते । 'अनन्तर्हितान् एवेत अध्वान् लोकान् जयति । जैमिनी. १/१४६ दिशाएँ एवं अन्तरिक्ष द्यु लोक से परे भी है।

प्रजापति रिरिचान, रिक्तः

हिरण्यगर्भ, पुरुष, यश अथवा प्रजापति प्रजायें उत्पन्न करता गया और अन्ततः वह रिक्त हो गया । उसकी उत्पादन शक्ति और सामग्री चुक गयी। मैत्रायणी संहिता १/६/१२ में इसका उल्लेख महत्वपूर्ण है। 'प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा सर्वमाजिमित्वा व्यसंसत । शतपथ ६/१/२/१२ ॥ तांड्य ब्रा० ४/१०/१ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण १/२/६/१ । जैमिनीय ब्राह्मण २/१२८ के अनुसार प्रजा उत्पन्न कर ढीला हो गया और वह झुक कर सो गया । वाइविल में भी स्पष्ट ही विचार उद्घाटित हुआ है— Thus the heaven and the earth were finished, and all the host of them.' तथा 'And on the seventh day God ended his work which he had made; and he rested on the seventh day.....(Genesis 2). यहाँ सातवें दिन का अर्थ सात लोकों और सात व्याहृतियों से है तथा रेस्टेड का अर्थ विश्राम या सोने से है। वैदिक ज्ञान सार्वजनीन, सार्वदेशिक है। मिश्र के ज्ञान पर भी वैदिक ज्ञान की छाया देखी जा सकती है।

वृत्र—विवर्त्त

वैदिक विज्ञान में वृत्र की माया अचंभित करने वाली घटना है। वृत्र के बिना मरे धरती पर उद्भिज सृष्टि नहीं हो सकती थी। बीज भी नहीं बन सकते थे। बिना उद्भिज के मानवीय सृष्टि भी असम्भव थी। वेद में वृत्र का विस्तृत वर्णन है । यह वृत्र रहस्य ब्राह्मण प्रवचन से अनावृत होता है। सृष्टि उत्पत्ति के अवसर पर जब प्रजाएँ पैदा हो रही थी। पुनः अन्तरिक्ष और अधिक विस्तृत हुआ। विभिन्न लोकों में से कुछ लोक दृढ़ होने लगे । देवता यौवन से संपृक्त हुये और वृत्र वृद्धि को प्राप्त हुआ और उसके हनन करने का समय उपस्थित हुआ। 'प्रजाः सृष्ट्वा—अंहोऽवयज्य सोऽकामयत । वृत्रं हन्याम्।' मैत्रा० सं० १/१०/१४ ॥ इस प्रकरण के रहस्य को जानने के लिये तैत्तिरीय संहिता २/४/१२, की तुलना मैत्रायणी संहिता २/४/३ से करनी चाहिये— 'य यावद् ऊर्ध्वः पराविध्यति तावति न्ययमेव व्यरमत ।.....य इमानि लोकान् अवृणोत् तद् वृत्तस्य वृत्रत्वम् । तस्माद् इन्द्रो अविभेत् ।.....तस्मै त्वष्टा व्रज्रम असिंचत् । तपो वै स वज्र आसीत् । तम् उधन्तुं नाशकनोत् ।

वह अग्नि ऊपर—ज्वाल जहाँ तक बींचता है, वहाँ तक स्वयं ही वह उठर गया। यदि निश्चय उतना झुकाव (अन्तरिक्ष वन) था। यदि निश्चय उतनी अग्नि पर अधिकार था। वह पैदा होता हुआ, अग्नि, सोम पर बलवान हुआ। वह वाण की दूरी तक चारों ओर बढ़ा और तीनों लोकों को आवृत कर लिया। लोकों

को घेरना ही वृत्र का वृत्रत्व है, जिससे इन्द्र डरा । त्वष्टा ने भी डरकर उसके मारने के लिये वज्र को सींचा । यहाँ उस समय अग्नि के तीन रूप होकर अग्नि तथा दो देवता रूप हुई—'यथा—

'अग्निः त्रेधा— आत्मानं कृत्वा प्रत्यय तत् । अग्निरेवास्मिन् लोके भूत्वा । वरुणोऽन्तरिक्षे । रुद्रो दिवि । मैत्रा० सं० ४/३/४ ॥ स्पष्ट है कि सभी देवता अग्नि और सोम के परमाणुओं के रूपान्तर हैं।

शतपथ ब्राह्मण १/६/३/९ जो होता हुआ बढ़े वह वृत्र है। 'अथ यद् वर्तमानः समयभवत् तस्माद् वृत्रः । विकसित वृत्र का विवेचन शतपथ ने निम्नवत् दिया गया है। 'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये ।.....तस्माद् वृत्रो नाम । शत० १/१/३/४—५ ॥ वृत्र सभी छावा पृथ्वी को आवृत कर सोया । इसी से उसको वृत्र नाम दिया गया। उसको इन्द्र ने मारा । दुर्गन्ध भरा हुआ सर्वत्र से वह वृत्त आपः की ओर वहा । सभी ओर समुद्र है। घृणा करते आपः ऊपर ऊपर बहने लगे। वे ही दर्भ हुये । दुर्गन्ध रहित आपः के दूसरी ओर वृत्र दुर्गन्ध युक्त होकर बहा । यह दुर्गन्ध इन आपों की पवित्रता को नष्ट करता है।

वृत्र के नष्ट हुये बिना त्रिलोक की लीलाएँ असम्भव थीं । इसी समय इन्द्र, मरुत्, आपः और अग्नि के प्रभाव भी बढ़े । मूल और इनके विचारों ने ही इन्द्र में शक्ति उत्पन्न की । यह विज्ञान वेद के साक्षात् कर्ता ऋषियों की ही देन है। वृत्र ने लोकों को अन्धकार से आवृत कर दिया। स्कन्द ऋग्भाष्य में इसे सुस्पष्ट किया गया है। 'वृत्तः किल महत्तमस्ततान् तमसा वृतं सर्वगन्धं प्रज्ञातं वभूव । ऋग्वेद १/५१०/४ में कहा गया है कि वृत्र के तमस ने सूर्य, नक्षत्र और रश्मियों को लुप्त कर दिया । तब इन्द्र ने वृत्र का वध किया। तब अग्नि, सोम और इन्द्र ने सूर्य को दिव लोक में स्थापित किया। स्पष्ट होता है कि वृत्र वध से पहले सूर्य दिवलोक में नहीं था। वह नीचे था उसका अवस्थापन नहीं हो पाया था। वृत्र भूमि से द्युलोक तक व्याप्त था वेद में उल्लिखित सप्तसिंधु पार्थिव लोक की नदियाँ नहीं हैं। वे नद तो द्यु तथा अन्तरिक्ष में स्थित थीं। यो हत्वा—अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् । ऋग्वेद २/१२/३ तथा ३/३३/६ एवं निरुक्त २/२६ ।

इस वृत्र वध के पश्चात् ही काल्वाली (गंजी) धरती पर औषधियों तथा वनस्पतियाँ उगीं । वृत्रके अंशों ने आपः या सोम और पृथ्वी के योग से बीजों को पैदा किया । वेद मंत्रों में वृत्र (महामेघ) की तुलना भी पुरुष से की है, जिसके विविध अंगों से विभिन्न बीज बने। इसी वृत्र के शरीर से गिरि और पत्थर भी बने। 'तस्य एतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानः । शतपथ ब्रा. ३/४/३/१३, ३/९/४/१४, ऐसे वृत्र एक नहीं अनेक हुये। 'अग्निर्वृत्राणि दयते पुरुणि।' ऋग्वेद १०/८०/२ तथा ३/३०/४ वेद विज्ञान ही अति अतीत के सत्य का उद्घाटन कर सकता है जो दैवी और योग समाधि के द्वारा ही सम्भव होता है।

वैदिक परम्पराओं का पर्यावरण एवं पारितंत्र के संतुलन में योगदान

प्रकृति ईश्वर का एक अमूल्य उपहार है। हमारे देश में प्राचीन काल से मानव सभ्यता के जो सामाजिक रीति-रिवाज चले आ रहे हैं उनके पीछे वैज्ञानिक दृष्टि है तथा पारितंत्र के संतुलन की मर्यादा भी है। पर्यावरण संरक्षण प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति और जीवन शैली का अभिन्न अंग रहा है। प्रकृति प्रेम और आदर की भारतीय परम्परा अतिप्राचीन है, जिसका प्रारम्भ वैदिक युग से ही हुआ है। सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त उस काल की मुद्राओं, मूर्तियों आदि में हाथी, गाय गैंडे, बैल व अन्य पशु पक्षियों की आकृतियों से भी यह प्रमाणित होता है कि विश्व में प्रकृति के संरक्षण का प्रारम्भ सर्वप्रथम ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक ने किया था।

प्रकृति के माध्यम से जीवन की मंगल कामना यह हमारे वेदों की विशेषता रही है। यह कामना है शुद्धि की, पवित्रता की तथा पर्यावरण के संरक्षण की। जल शुद्ध रहे, अन्न जल विषाक्त न हो, रत्नगर्भा पृथ्वी धन की खान और कृषि कर्म की सम्पादिनी बनी रहे, पशुधन की विपुलता रहे तथा संतानें स्वस्थ और सुन्दर हों— यही वह कामना है जो प्रकृति तथा मनुष्य के मिलन और उद्दीपन का बोध कराती है। वैदिक युग के समाज की अपनी अनिवार्यताएँ और प्राथमिकताएँ थी। यज्ञ, पूजा—विधि, प्रकृति प्रेम, परस्पर सौहार्द तथा शतायु होने की कामना के बीच समाज का संतुलन बना रहता था। आध्यात्मिक जीवन का ताना—बाना इतनी बारीकी से बुना गया था कि भौतिक इच्छाएँ अपने आप उसके भीतर रहने को विवश थी।

हमारे यहाँ व्यवस्था ऐसी ही थी कि जीवन का अधिकांश समय प्रकृति की रमणस्थलियों, वनों तथा पर्वतों में बीतता था। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करते समय बनांचलों में स्थित गुरुओं के आश्रमों में निवास, वानप्रस्थ काल में गृहत्याग करके वनों की ओर प्रयाण तथा अंत में सन्यासाश्रम में वनों, पर्वतों आदि के अंचलों में निवास प्रकृति के साथ मानव के सामंजस्य के सीधे उदाहरण है। वस्तुतः इन सभी के पीछे यही अवधारणा थी कि प्रकृति के कण—कण में परमेश्वर का निवास है तथा उसी की सत्ता से जगत् दृष्टिगोचर होता है। हमारे प्रसिद्ध ग्रन्थ ईशोपनिषद् का एक प्रसिद्ध मंत्र मानव के स्वस्थ तथा दीर्घायु जीवन की सम्पुष्टि करता है—

कुर्वन्नेहे कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

वेदों का संदेश है कि हम मानव शुद्ध वायु में श्वास लें, शुद्ध जल का पान करें, शुद्ध अन्न, फल, भोज का आहार करें, शुद्ध मिट्टी में खेलें, कूदें तथा कृषि करें। छान्दोग्योपनिषद् में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि—
“आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः , स्मृतिलाभे सर्वग्रथीनां विप्रमोक्षः । अर्थात् आहार से मन शुद्ध हो जाता है। मन की शुद्धि स्मृति को दृढ़

करती है तथा दिव्य स्मृति को पाकर मनुष्य अपने सभी बंधनों से मुक्त हो सकता है। तथा तब ही उसे वेद प्रतिपादित आयु “शतं जीवेम शरदः शतम्” भी प्राप्त हो सकती है। आज तथाकथित उद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण से कुछ भी शुद्ध नहीं बचा है। आज का आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है कि— “जैसा खाए अन्न वैसा होवे मन”। हमको शिक्षा भी यही दी जाती थी कि हम प्रकृति के विभिन्न संसाधनों का अत्यधिक संरक्षण करें, उनका कम दोहन करें न कि शोषण तथा कम दोहित संसाधनों का अधिकतम उपयोग करें।

जनसंख्या में हो रही वृद्धि के कारण प्राकृतिक सम्पदा का न केवल संरक्षण ही आवश्यक है वरन् उसकी वृद्धि भी की जानी चाहिए। हमारी विकास व्यवस्था ऐसी है कि जिसके कारण प्राकृतिक सम्पदा के वर्तमान भण्डार भी निरन्तर कम हो रहे हैं। आधुनिक तथा प्रगतिशील कही जाने वाली हमारी जीवन शैली ने पारितंत्र व पर्यावरण के संतुलन को भंग कर दिया है। इसने अमशत तुल्य वायु तथा जल को प्रदूषित किया, मृदा, वन आदि नैसर्गिक सम्पदा का निरन्तर प्रदूषित होना हमें आर्थिक विकास के पर्यावरणीय दुष्प्रभूतियों की ओर ध्यान देने हेतु मजबूर कर रहा है। हमारी वैदिक संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण की निम्न धारणाएँ हैं।

१. पुराण एवं वन्यजीव :

हमारे अठारह पुराण प्रकृति के विकास क्रम को ही दर्शाते हैं। यदि इनके नामकरण आदि का अध्ययन किया जाए तो सृष्टि का विकास स्वतः सिद्ध हो जाता है। यदि जलचरों को लें तो मत्स्य पुराण, हंस पुराण तथा कूर्म पुराण सामने आते हैं। थलचरों (पशुओं) का प्रतिनिधित्व वाराहपुराण द्वारा हो जाता है। वनस्पति जगत् के लिए पद्मपुराण है तो पक्षी जगत् के लिए गरुड़ पुराण। शरीर शास्त्र के नाम पर लिंग पुराण, प्राकृतिक तत्वों के नाम पर नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण और वामन पुराण के नाम लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति का प्रतिनिधित्व ब्रह्मपुराण, विष्णु पुराण, शिवपुराण तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण करते हैं। ऋषि मुनियों के लिए भागवत पुराण, स्कन्दपुराण तथा सामान्य जन के लिए भविष्य पुराण भी इसी शृंखला में सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त हमारे १४ अवतारों में गरुड़ावतार व हंसावतार पक्षियों की प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं तो वाराहवतार तथा नृसिंहावतार पशुओं के एवं मत्स्यवतार व कूर्मावतार जल जीवों के समान के ही द्योतक हैं। हमारे यहाँ ईश्वर भी अवतार लेने के लिए पशु-पक्षी की काया को धारण करना गौरव समझते हैं। क्योंकि परमेश्वर ने प्रकृति में सभी जीवों को मान्यता दी है। इन पुराणों में प्रकृति के हर पक्ष को मान्यता मिली है तथा इनके द्वारा इन जीवों का संरक्षण भी होता है।

२. पशु-पक्षियों की पूजा की परम्परा :

भारतीय संस्कृति ने जितनी प्रमुखता प्राकृतिक जीवन एवं मानव को दी है, इतना ही महत्त्व वन्यजीवों को भी प्रदान किया है। हमारी संस्कृति में वन्यजीवों को सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक धरोहर के रूप में प्रमुख स्थान दिया गया है। हमने जन्तुओं तथा पशुओं को भी अवतार माना है तथा हजारों

वर्षों से उनकी पूजा, अर्चना आदि कर रहे हैं। वन्यजीव कई देवी-देवताओं के वाहन के रूप में भी पूज्यनीय है। जैसे माँ दुर्गा का सिंह, भगवान विष्णु का गरुड़, ब्रह्मा का हंस, शंकर जी का वृषभ, इन्द्र का हाथी,, गणेशजी का मूषक, कार्तिकेय का मयूर, यहाँ तक की शीतला माता का वाहन गधा तथा भरूजी के वाहन कुत्ते भी पूजनीय हैं।

हमारे यहाँ पशु-पक्षियों की उपयोगिता एवं महत्त्व को जीवन के हर क्षेत्र में स्वीकार गया है और उन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये विभिन्न त्यौहार मनाने की परम्पराओं का विकास किया गया है।—यथा—गाय व बछड़े की महत्ता प्रकट करने के हेतु बछेबारस एवं गोपाष्टमी, नागपंचमी एवं गोगानवमी को सर्प की नागदेवता के रूप में पूजा होती है तथा उन्हें दूध पी पिलाया जाता है। इसी प्रकार श्राद्धपक्ष में कौए को आवाज देकर ग्रास दिया जाता है, बंदरों को हनुमानजी का रूप मानकर चना, गाजर इत्यादि खिलाई जाती है। इसी प्रकार मोर, कबूतर और चिड़ियों को दाना डालने की परम्परा भी आज तक विद्यमान है। भोजन के पूर्व ग्रास—गायस कुत्ता चींटी तथा कौए आदि को देने की परम्परा आज पर्यन्त चली आ रही है।

वेदों में अनेक स्थानों पर हिंसा का निषेध किया गया है। यजुर्वेद के प्रारम्भ में ही “पशून् पाहि” शब्द आता है जिसका अर्थ है पशुओं की रक्षा करो। इसके अतिरिक्त—“शन्नो अस्तु द्विपदे चतुष्पदे” जिसका अर्थ—पशु पक्षियों में शान्ति हो, आदि का उल्लेख है। यजुर्वेद रुद्राष्टाध्यायी में उल्लेख है—“पशूनां पतये नमो, त्र्यविश्च च मे दिव्यवाद् च मे—पष्टवाद् मे—

अर्थात् भगवान शंकर पशुओं के भी देवता हैं तथा उनका संरक्षण करते हैं। पशु जैसे—सांड, बैल, बकरा,—बकरी घोड़े आदि हमारे लिए लाभकारी सिद्ध होंगे। वह उनके स्वास्थ्य की मंगल कामना हेतु कहा गया है।

ये वन्य जीवन अपनी खुराक वनों से प्राप्त करते हैं और मल—मूत्र तथा हड्डियों के रूप में खाद इन वनों का प्रदान कर हर-भर बनाये रखने में उपादेय सिद्ध होते हैं। हमारे लिये दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि हम सींग के लिए गैडे को, दांत के लिए हाथी को, खाल की तस्करी के लिए घड़ियाल, सर्प, चीते तथा लोमड़ी को मारने में तनिक भी करुणा नहीं रखते हैं। हम लोमड़ी की खाल की टोपी, भोले भाले खरगोश के मुलायम बालों के दस्ताने पहनने में अपनी शान समझते हैं। इसी प्रकार भगवती मां के वाहन शेर की खाल को कमरों में लटकाने में भी अपनी इज्जत मानते हैं। इसका मूल कारण है कि वैदिक वांगमय में बताये गये वन्य जीवों तथा मानव के बीच समन्वय को तोड़ते जा रहे हैं।

३. दैनिक पांच यज्ञों की परम्परा :

वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न रूपों—सूर्य, चन्द्र, जल, पृथ्वी आदि के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए उन्हें देव रूप प्रदान किया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है— “मातृभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” अर्थात् पृथ्वी मेरी माता हैं और मैं उसका पुत्र हूँ। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् उपनिषदों की भूमिका में लिखते हैं कि ऋग्वेद का ध्येय मानव को देवता बनाना है। वेद के अनुसार मानव के उत्थान

का मार्ग “यज्ञमय जीवन” ही हैं। यज्ञ की महत्ता भगवान् कृष्ण ने गीता के तीसरे अध्याय में इस प्रकार की है—

“अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। और अन्न की उत्पत्ति वृष्टि यज्ञ से होती है एवं यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। मनुस्मृति में पांच प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं—ब्रह्म यज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ तथा बलिवैश्व यज्ञ । शतपथ—ब्राह्मण में “यज्ञो वै विष्णुः कहकर यज्ञ को सम्पन्नता प्रदान करने वाला विष्णु कहा है। यज्ञ द्वारा जिन दिव्य शक्तियों को उन्नत करने की चर्चा गीता में है, वे सभी हमारे पर्यावरण की घटक ही हैं। पंच महाभूतों में प्रथम भूमि हमारी माता हैं। इसी प्रकार जल (वरुण), वायु (मरुत्) अग्नि भी देवता अर्थात् दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनके प्रति मानव को देव—बुद्धि रखनी चाहिए ।

भारतीय वैदिक संस्कृति धर्म प्रधान है। मानव का धर्म है, यज्ञमय जीवन जीना। अग्निहोत्र यज्ञ में ऋतु के अनुसार अलग-अलग पदार्थों से बनी सामग्री की आहुतियाँ दी जाती हैं। इनमें वाष्पशील तत्व २०० अंश से ४०० अंश सेल्सियस तापमान पर उड़ जाते हैं तथा वायु में मिलाकर दूर-दूर तक पहुँचते हैं। उड़ने वाले वाष्पकणों का व्यास मिलीमीटर के सौवें भाग से लेकर करोड़वें भाग तक हुआ करता है। ये सूक्ष्मकण श्वास के साथ फेफड़ों में पहुँचकर रोग दूर कर देते हैं। ऐसा अनुमान है कि एक साधारण यज्ञ से आस पास का लगभग ८०० वर्गमीटर क्षेत्र प्रभावित होता है।

यज्ञ से न केवल वायु ही शुद्ध होती है, वरन् उसके सम्पर्क में आकर जल तथा फिर मृदा भी शुद्ध होती है। यज्ञ—भस्म भी एक अनुपम उर्वरक देखा गया है। इसके खेतों का अन्न अधिक पौष्टिक तथा स्वास्थ्यवर्धक होता है। अनुसंधान परिणाम दर्शाते हैं कि गौ—घृत से यज्ञ करने से रोगी शीघ्र स्वस्थ होते हैं तथा वनस्पति घृत के उपयोग से रोग बढ़ने लगता है। फ्रांस के विज्ञान प्राध्यापक डॉ. ट्रिलबर्ट के अनुसार शक्कर के तेजी से जलने पर फार्मेलडीहाइड (HCHO) गैस बनती है जो कृमियों को नष्ट करके वायु को स्वास्थ्यप्रद बना देती है। डॉ. ट्रिलबर्ट ने चेचक, क्षय तथा हैजा आदि रोगों में यज्ञ चिकित्सा से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त किए हैं। इसी प्रकार डॉ. ट्रेल्स ने मुनक्का, किशमिश आदि सूखे मेवों को, जिनमें शक्कर की मात्रा अधिक होती है, जलाकर देखा कि इनके धुएँ में मोतीझर रोग के कीटाणु आधे घंटे में तथा अन्य व्याधियों के रोगाणु दो घंटे में मर जाते हैं।

वनस्पति जगत् में धूप में कार्बन—डाई—ऑक्साइड से कार्बोहाइड्रोजन बन जाता है। इसी कारण दिन की अपेक्षा रात्रि में कार्बन—डाई—ऑक्साइड की मात्रा वायु में १२ प्रतिशत बढ़ जाती है। अतः सूर्योदय के पश्चात् तथा सूर्यास्त के पहले ही अग्निहोत्र किए जाते हैं। यज्ञ से उत्पन्न कार्बन—डाई—ऑक्साइड पौधों के लिए भोजन का काम देती है। फलतः यज्ञ करने की फसल की उपज बढ़ती है।

यज्ञ के धुएँ में एसिटिक अम्ल होता है जो फसल में रोग फैलाने वाले कीड़ों को नष्ट करता है।

अतः पर्यावरण प्रदूषण से उत्पन्न संकट से निपटने के लिए यज्ञ करना हमारा दायित्व ही नहीं, एक राष्ट्रीय कर्तव्य होना चाहिए। यह एक महाविज्ञान है जिसकी शिक्षा सभी स्तरों के विद्यालयों में दी जानी चाहिए।

४. वृक्ष न काटने के निर्देश :

जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक वृक्ष हमारे काम आते हैं। भूमि की उर्वरा शक्ति के संरक्षण हेतु भू-क्षरण, भूस्खलन तथा बाढ़ को रोकने में भी वन सहायता करते हैं तथा जन्तुओं एवं वनस्पतियों के बीच आवश्यक संतुलन बनाए रखने में ऑक्सीजन तथा कार्बन-डाई-आक्साइड को निश्चित अनुपात में रखते हैं। वृक्ष काटने के बारे में वेद निषेध करते हुए निर्देश देते हैं कि जिस वृक्ष पर पक्षियों के घोंसले हों तथा देवालय एवं श्मशान भूमि पर उगे वृक्षों को नहीं काटना चाहिए तथा साथ ही साथ ही दूध वाले वृक्षों जैसे बड़, पीपल, बहेड़ा, अरंड, नीम आदि को भी नहीं काटना चाहिए।

उद्यान—देवालय—पितृवन—वलीकमार्गचितिजातः

कब्जोर्ध्व—शुष्क—कण्टकवल्लीवृन्दारकयुक्ताश्च ॥

बहुविहगालयकोटरपवनानतापीडिताश्च ये तरवः

ये च स्युः स्त्रीसंज्ञा न ते शुभाः कर्तनीयः ॥

अर्थात् उद्यान, मंदिर, पितृवन, दीमक की बांबी एवं जिन वृक्षों पर लताएँ फैली हों, उन्हें नहीं काटना चाहिए। यदि किसी अपरिहार्य कारण से पेड़ काटना भी पड़े तो वृक्ष से क्षमा मांगनी चाहिए तथा उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षियों से भी प्रार्थना करे कि वे उस वृक्ष को छोड़कर अन्यत्र चले जायें।

यानीह भूतानि वसन्ति तानि, बलिं गृहीत्वा विधिवत्प्रयुक्तम् ।

अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु, क्षमन्तु तेऽस्मान् नमोऽस्तु तेभ्यः ॥

हमारी वैदिक संस्कृति में वृक्षों को भी देवता माना गया है। वृक्ष भी रूद्र के रूप में हैं क्योंकि वे विषैली गैसों को पीकर अमृतमयी गैस निकालते हैं। हमारे यजुर्वेद के रूद्राष्टाध्याय में वृक्षों को सींचना शिव की आराधना मानी गयी है। क्योंकि भगवान् शंकर को वनों के अधिपति तथा रक्षक माना गया है।

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो वनानां पतये नमः ।

वृक्षाणां पतनये नमो औषधीनां पतये नमः ॥

अरण्यानां पतये नमः, नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः ॥

यजुर्वेद

हमारी भारतीय संस्कार एवं त्योहार वृक्षों के बिना सम्पन्न ही नहीं हो पाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में “अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्” कहकर विभूतियोग में वृक्षों की महिमा का गान किया है। इसी प्रकार तुलसी के पौधे हमारे देश के हर हिन्दू परिवार के घर में मिलता है तथा इसके औषधीय गुण एवं पर्यावरणीय महत्व को सम्पूर्ण विश्व जानता है। इस पौधे के पार्श्व क्षेत्र में दूषित कीटाणु तथा क्षुद्र जीव-जन्तु प्रवेश नहीं हो पाते हैं। तुलसी के पौधे से निकला एरोमा (Aroma) वायु शुद्धीकरण में बहुत सहायक है।

वृक्ष जल तथा पृथ्वी की रक्षा हेतु अथर्ववेद का निर्देश है—

त्रीणि छन्दांसि कवयो वि येतिरे, पुरुरूप विश्वचक्षणम्।

आपौ वाता औषधयस् तान्येकस्मिन् भुवन आपितानि ॥

— अथर्ववेद ८/१/१७

अर्थात् वृक्षों को मत काटो । जल तथा पृथ्वी की रक्षा करना हमारा धर्म है। पृथ्वी से उतना ही भाग निकालो जिसकी क्षतिपूर्ति की जा सके ।

५. जल संरक्षण की परम्पराएं :

जल को जीवन की संज्ञा दी गई है। जीवों की सभी जैविक क्रियाओं में जल किसी न किसी रूप में भाग लेता है। जल को देवता मानने की परम्परा भी हमारी संस्कृति में है जिससे उसका अनावश्यक विनाश रुक जाता है। जल संरक्षण की परम्पराओं के अन्तर्गत नदियों को माता का स्थान दिया गया है तथा उनकी पूजा भी की जाती है। हमारे यहां परम्परागत जल स्रोतों के निर्माण एवं उनके रखरखाव पर भी अत्यधिक ध्यान दिया जाता था तथा कुएं, बावड़ी, तालाब तथा झालरों का निर्माण एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। इन सभी जल स्रोतों में जल प्रवाह बना रहे इसकी प्रार्थना ऋग्वेद (५,५,६,९) में की गई है। वृष्टि प्रकार का वैज्ञानिक वर्णन अथर्ववेद (४,२७,४) में स्पष्ट वर्णित है तथा हमारे ऋग्वेद (१.१३६.१) में जलचक्र का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया गया है।

हमारी वैदिक परम्परा में जल स्रोतों को स्वच्छ रखने के निर्देश भी वर्णित किए गए हैं जिससे प्रदूषण की संभावना भी नहीं होती थी।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि विश्वव्यापी पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान हमारे “वेदों” में ही है। वेद बारम्बार हमें पर्यावरण के प्रति सतर्क एवं सावधान करते हैं तथा निर्देश देते हैं कि हे मानव ! सीमा का उल्लंघन घातक होता है। मर्यादापूर्ण तथा अनुशासित जीवन न केवल स्वयं मनुष्य का रक्षक होता है, वरन् संपूर्ण ब्रह्माण्ड का संरक्षक होता है। अतः हमें संरक्षित परम्पराओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।

सहायक ग्रन्थ—सूची

वैदिक वाङ्मय

ऋग्वेद

अथर्ववेद

यजुर्वेद

ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण—एग्लिंग का अनुवाद

पैंगिरहस्य ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण

एतरेय ब्राह्मण

जैमिनीय ब्राह्मण

ताण्ड्य ब्राह्मण का अँग्रेजी अनुवाद

कौषीतकी ब्राह्मण

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण

लौकिक संस्कृत साहित्य

रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर एवं पूना संस्करण

महाभारत, गीता प्रेस गोरखपुर एवं पूना संस्करण

वायु पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली

ब्रह्माण्ड पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली

विष्णु पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली

ब्रह्माण्ड पुराण, संस्कृति संस्थान, बरेली

विष्णु पुराण, जीवाननन्द संस्करण, श्रीधर स्वामी टीका

मत्स्य पुराण, जीवाननन्द संस्करण, श्रीधर स्वामी टीका

कूर्म पुराण, जीवाननन्द संस्करण, श्रीधर स्वामी टीका

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, जीवाननन्द संस्करण, श्रीधर स्वामी टीका

अद्भुत सागर, जीवाननन्द संस्करण, श्रीधर स्वामी टीका

अर्थशास्त्र, कौटिल्य, संपा० शाम शास्त्री

भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, पं० भगवतदत्त

उपनिषद्

मुण्डकोपनिषद्, कल्याण का उपनिषद् अंक

पैंगि—उपनिषद्

कठोपनिषद्
 छान्दोग्योपनिषद्
 बृहदारण्यकोपनिषद्
 निरुक्त—यास्क
 निघंटु, यास्क
 स्मृति, यास्क
 मनुस्मृति,
 याज्ञवल्क्य स्मृति
 दर्शन
 वेदान्त सूत्र, शांकर भाष्य
 सांख्य सप्ततिकारिका, माठर वृत्ति
 वैशेषिक दर्शन, शंकर मिश्र
 पातंजलि महाभाष्य
 प्रशस्तपाद भाष्य
 राजतंगिणी, कल्हण
 उत्तर रामचरित, भवभूति
 अभिधान चिन्तामणि, हेमचन्द्र टीका

आंग्ल साहित्य

वैदिक माइथोलोजी : कीथ मैकडोनल, १८९७
 रिलीजन आफ वेद : एम० ब्लूम फील्ड, बर्लिन, १८९०
 एस्ट्रोनोमी एण्ड कोस्मोगोनी : जे० एच० जीन्स, १९२९
 दी ओरिजन आफ दी अर्थ : डब्ल्यू० एम० स्मार्ट, कैब्रिज, १९५७
 द शतपथ ब्राह्मण—अनु० जे० ऐंगलिंग, १८८५
 H.A.L. : मैक्समूलर, १८६०
 दी यूनीवर्स एण्ड : डॉ० आइन्स्टीन, वार्नेट्ट
 दी एक्सपैशन आफ दी यूनिवर्स : J.B. Sidgwick, London
 फिजिक्स ऑफ दी सन एण्ड स्टार्स — मक्क्रय
 वैदिक रीडर : मैकडोनल
 वाइविल
 विवेलोग्राफी आफ अर्थ : जी० गैमो, तृतीय संस्करण, ५ मार्च, १९४८
 दी वर्थ एण्ड डेथ आफ दी सन : जी० गैमो०
 इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका
 प्रोग्रेस इन ऐलीमेन्ट्रीय वार्टिकल एण्ड कॉस्मिक रेज, फिजिकल, जे० जी० विल्सन
 दी फिजिक्स आफ दी सन एण्ड स्टार्स, डब्ल्यू० एच० कैक् क्रेया, लन्दन, १९५०
 संस्कृत—इंगलिश कोश, विलियम्स
 लाइफ आन अदर वर्ल्ड : एच० स्पैन्सर जौंस संहिता
 रेडियो एक्टिविटी एण्ड न्यूक्लीयर फिजिकल, न्यू यार्क, १९५०,

कुयन शरीफ
चरक संहिता
कपिष्ठल संहिता,
काठक संहिता
तैत्तिरीय संहिता, ए०वी०कीथ अनु०
मैत्रायणी संहिता
सुश्रुत संहिता—सूत्र स्थान
पायशर संहिता
बृहदेवता

मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र
मन्त्रि मन्त्र

